वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक — पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
सहसंपादक — पं० दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २४] विषयानुक्रमणिका [अङ्क १

इस अंक के पहले फार्मके पृष्ठक भूलसे गलत छपे हैं। पाठक १ से ८ ऐसा समझे।

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २७७

वर्ष २४ : : : : अङ्क १

पौष संवत् १९९९

जनवरी १९४३

प्रभु का महान् सामर्थ्य।

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावां अस्ति
देवता विदानः। न जायमानो नशते न
जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

(ऋ. १।१६५।९)

हे इन्द्र! (ते अनुत्तं) तेरी प्रेरणा के विना (न किः) कुछ भी बनता नहीं है। (त्वा-वान् विदानः देवता नास्ति) तेरे जैसा ज्ञानी देव कोई नहीं है। (यानि करिष्या कृणुहि) जो कर्तव्य तू करता है, उनको कोई दूसरा (न जायमानः) जन्म लेनेवाला अथवा (न जातः) जन्म को प्राप्त हुआ (नशते) कर नहीं सकता।

तू ही अकेला सर्वसमर्थ है, तेरे जैसा दूसरा कोई नहीं है।

यजुर्वेदों का प्रकाशन।

यजुर्वेद की अनेक शाखाएं हैं। परन्तु इनमें से इस समय थोडीसी मिलती हैं। जो मिलती हैं, वह ये हैं-

\+ १ वाजसनेयी संहिता [शुक्ल यजुर्वेद]
\+ २ काण्व संहिता [,, ,,]
\+ ३ मैत्रायणी संहिता
\+ ४ काठक संहिता
५ तैत्तिरीय संहिता [कृष्ण यजुर्वेद]
* ६ कपिष्ठल कठ संहिता

× ये चार संहिताएं छपकर तैयार हुई हैं। * यह अधूरी मिली है, संपूर्ण संहिता प्राप्त करनेका यत्न किया जा रहा है। संपूर्ण संहिता मिलते ही छापी जायगी।

तैत्तिरीय संहिता दक्षिण भारत में प्रचलित है और शुक्ल यजुःसंहिता उत्तर भारत में चलती है। शुक्लयजुकी दो संहिताएं हैं, और दोनों छापी हैं। इन दोनोंमें कुछ पाठभेद और कुछ मंत्रक्रमभेद हैं। अध्याय भी आगे-पीछे हुए हैं, पर प्रायः ये दोनों संहिताएं करीब करीब समान ही हैं।

ऊपर लिखी चारों संहिताएं छपकर तैयार हैं। केवल तैत्तिरीय संहिता छापना शेष कार्य है। वह भी शीघ्रही हो जायगा।

मैत्रायणी संहिता स्वरोंके साथ किसीने इस समयतक छापी नहीं थी, वह कार्य स्वाध्यायमंडलद्वारा किया गया है। इस संहिताके स्वर विशेष रीतिसे दिये जाते हैं और सभी स्वरोंके चिन्ह ये बर्तते हैं। ऋग्वेदादि में नीचे और ऊपर ऐसे दोही स्वरचिन्ह दिये जाते हैं, पर मैत्रायणी में पांच-छः स्वरचिन्ह हैं, जो दिये जाते हैं। इतने नये स्वरचिन्ह निश्चित करके इस पुस्तक में दिये हैं। इस कार्यके लिये बडा प्रयत्न करना पडा है। क्योंकि मैत्रायणी के कई स्वर अक्षरके मध्यमें दिये जाते हैं। वैसा मुद्रण करना सर्वथा असंभव है, इसलिये नये स्वरचिन्ह निश्चित करने पडे और वैसे नये स्वर इस मुद्रणमें प्रयुक्त करने पडे हैं।

मैत्रायणीसंहिता जर्मनीमें विनास्वर, अथवा एक स्वरके साथ मुद्रित हुई थी। इसका मूल्य बहुत है और स्वर नहीं है। इसलिए हमने यह ग्रंथ सब स्वरोंके सहित मुद्रित किया है। जो पाठक पढेंगे वे इसके परिश्रमकी बात जान सकते हैं। पाठक एक वार इस ग्रंथको अवश्य देखें।

इस संहितामें यजुर्वेदमन्त्र के भागोंको अलग अलग करके मुद्रित किया है। यजुर्वेदमें जिसको एक मन्त्र कहते हैं, वह एक ही मन्त्र नहीं होता, परन्तु वह अनेक मंत्रोंके समूहों की कण्डिका होती है। प्रत्येक कण्डिका में कितने मन्त्र हैं, इसके ज्ञान की आवश्यकता रहती है। अर्थ के ज्ञानके लिये इसकी आवश्यकता होती है। इसीलिये ये मन्त्रविभाग हमने इस पुस्तकमें पृथक् पृथक् मुद्रित किये हैं। कण्डिका को देखनेसे हर कोई जान सकता है, कि इस कण्डिकामें इतने मन्त्र हैं।

इस संहितामें मंत्र और ब्राह्मण ऐसे दो भाग हैं। वे दोनों यहां इस ग्रंथमें छपे हैं, पर आरण्यक [मैत्रायणी का] इस समयतक समग्र किसी स्थानपर छपा नहीं था। वह समग्र प्राप्त करके इसमें मुद्रित किया है। जो मैत्रायणी उपनिषद् मिलता है, वह अधूरा आरण्यक ही है। इस का जो भाग इस समयतक प्राप्त नहीं हुआ था, वह प्रभुकी कृपासे हमें मिला और वह समग्र ही इसमें छाप दिया है। अर्थात् इस ग्रन्थमें मैत्रायणी संहिता, मैत्रायणी ब्राह्मण और मैत्रायणी आरण्यक ऐसे तीनों भाग समग्र मुद्रित हुए हैं। आशा है कि पाठक इसका स्वागत करेंगे।

—प्रबंधकर्ता

ईश्वर सब भूतोंमें और सब भूत ईश्वरमें माननेवालोंके मतका विचार।

(५) +

इस समयतक इस लेखमाला के चार लेख मुद्रित हुए हैं। पहिले लेख में बताया है कि सब लोग **सत्-चित्-आनन्द** की प्राप्ति करना चाहते हैं, अर्थात् अपने आपको मृत्युसे बचाने, ज्ञान प्राप्त करने और आनन्द प्राप्त करनेके इच्छुक हैं। परन्तु उनका मार्ग अशुद्ध होनेसे वे अपनी इष्ट सिद्धिसे सर्वथा दूर ही रहे हैं। द्वितीय लेख में ईश्वर को न माननेवालों के मतोंका विचार किया और बताया कि, इनके मतसे विश्वशांति की समस्या दूर नहीं हो सकी। तृतीय और चतुर्थ लेखोंमें सुदूर स्थान में ईश्वर रहता है, ऐसा माननेवालों के विचारों का मनन किया। इनमें तृतीय लेखमें ईसाई आदिकोंके मतोंका विचार हुआ और चतुर्थ लेखमें वैष्णव आदिकोंके तत्त्वज्ञान का मनन किया। ईसाई आदिकों का ईश्वर भूमिपर आता नहीं था, वह वैष्णवादिकों का अवतारादि लेकर आने लगा, तो भी ईश्वर का स्थान दूर है, यह कल्पना वैसीहि रही। इस कारण जो न्यूनता रही, उस का विचार गत लेख में हुआ। अब उन विद्वानों के विचारों का मनन करना है कि, जो ईश्वर को सब भूतोंमें और सब भूतों को ईश्वरमें मानते हैं।

पहिले मतमें ईश्वर ही नहीं था, दूसरे मतोंमें वह सातवें आसमानमें मिला, तीसरे मतमें वह साक्षात्कार तथा अवतारसे लोगोंके अन्दर आकर रहने लगा और अब जिनका विचार करना है, उनके मतसे वह ईश्वर प्रत्येक भूतमें रहने लगा और सब भूत उस प्रभुमें विराजने लगे हैं!!

इन मतोंमें ईश्वर के विषयकी कल्पनाका विकास किस तरह हुआ, यह देखनेयोग्य बात है। पूर्व मतकी अपेक्षा दूसरे मतमें ईश्वर मानवोंके पास आने लगा है और अन्त में वह मानवों के हृदयोंमें विराजने लगा है। निःसन्देह यह विचारों की उत्क्रान्ति है। ईश्वरको न माननेवालों का अपने अनीश्वरवाद से समाधान नहीं हुआ, ईश्वरको दूर मानने से भी मानवों का समाधान नहीं हुआ, अवतार वादसे ईश्वर को मानवों में लानेसे भी समाधान नहीं हुआ, इसलिये प्रत्येक वस्तु में ईश्वर और ईश्वरमें प्रत्येक वस्तु है, ऐसा मानने का तत्त्वज्ञान मानवों में प्रचलित हुआ और इसने मानवों के साथ ईश्वर का अटूट घनिष्ठ संबन्ध घोषित किया।

अवतार होनेपर अथवा योगसाधनसे साक्षात्कार होने के समय ही ईश्वर का अनुभव होनेकी संभावना पूर्व मत में थी, वह अब प्रत्येक वस्तुमें जीता जागता ईश्वर है और प्रत्येक वस्तु ईश्वर में है, ऐसा घोषित होने से, अपने अन्दर और बाहर ईश्वर की सत्ता प्रतीत होने लगी और ईश्वरप्राप्ति के लिये अपने अन्तःकरण में खोज करने की ध्यानधारणा की बात मानवों के सामने आ गयी!!!

सब में ईश्वर और ईश्वर में सब।

जो भी वस्तु या पदार्थ इस सृष्टि में हैं, वे बने होनेके कारण 'भूत' कहलाते हैं। इन सब वस्तुओं में, इन सब पदार्थों में, इन सब भूतों में ईश्वर है, सब भूतों के अन्दर ईश्वर विद्यमान है, इसी तरह वह प्रत्येक मानव में है, यह बात इस मत में मानी जाने लगी। मानव ही ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, अन्य प्राणी अथवा स्थावर पदार्थ ईश्वरप्राप्ति का यत्न भी नहीं करते और न ईश्वरप्राप्ति की इच्छा करते हैं, अतः इनका विचार छोड दिया जाय, तो मानवों के सम्बन्ध का विचार ही शेष रह जाता है, जो अनिवार्य रूप से विचार करनेयोग्य है।

यदि सब भूतों में, भूतों के अन्दर ईश्वर है, तब तो मनुष्य में वह निःसंदेह ही है। यदि सब भूत ईश्वर में हैं

+ इस लेखमाला का चतुर्थ लेख वैदिक धर्म क्रमाङ्क २७६ पृष्ठ ५०५ पर 'सुदूर स्थानमें ईश्वर' नामसे छपा है।

तब तो निःसंदेह सब मानव ईश्वर में रहते हैं, इसलिये मानवों के अन्दर जैसा ईश्वर है, वैसा ही मानवों के बाहर भी ईश्वर है। जैसा घडे में आकाश है और घडे के बाहर भी आकाश है, उसी तरह मानव के अन्दर और बाहर ईश्वर है और वह सर्व व्यापक भी है। प्रत्येक रजःकण में ईश्वर भरपूर भरा है, फिर वह मानव में है, इस विषय में क्या संदेह हो सकता है? इस लेख में हम मानव के अन्दर ईश्वर है, इसी का विचार करेंगे, क्योंकि पशुपक्षी, वृक्ष आदि ईश्वरप्राप्ति के इच्छुक नहीं हैं, परन्तु मानव ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, इसलिये उसी का विचार करना योग्य है।

ईश्वर सत्य और जगत् तुच्छ।

सब जगत् में ईश्वर है, वैसा वह मानव में भी है। पर ईश्वर ही प्राप्तव्य है, क्योंकि वही आनन्दस्वरूप है और यह जो सृष्टि, जगत् अथवा संसार है, वह असार है, हीन है, दुःखदायक है।

अनीश्वरवादियों ने जगत् को क्षणभंगुर, दुःखदायी और हीन तथा तुच्छ माना था, वैसा ही वह सुदूरवर्ती ईश्वर को माननेवालों में रहा, अवतारवादियों के मत में भी वैसा ही रहा और सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों के मत में ही यह सृष्टि तुच्छ, हीन, दीन, दुःखदायक ही रही है।

ईश्वर सब भूतों में है, ईश्वर ही प्राप्तव्य है, सब भूतों के अन्दर रहनेवाला ईश्वर ही प्राप्तव्य है, पर सब भूत क्षणभंगुर, असार अतः त्याज्य हैं। यह सृष्टिविषयक कल्पना इन सब मतों में एक जैसी ही रही है। यह बात यहां पाठकों को ध्यान में धरनी चाहिये।

मनुष्य के अन्दर ईश्वर है, मनुष्य के हृदय में ईश्वर है, वह प्राप्तव्य है, परन्तु मानव का शरीर तुच्छ, हीनदीन, दुःखों और मलों की खान है, इतना ही नहीं, परन्तु मनुष्य ही तुच्छ है, पापमूर्ति है, पाप से जन्मा है, इस कारण सब वासनाओं का क्षय करके, मैंपन का नाश करके, मन का नाश करके केवल ईश्वर का ही दर्शन करना चाहिये। इस तरह ईश्वरप्राप्तव्य और तद्व्यतिरिक्त सब सृष्टि त्याज्य यह बात वैसी ही इस मत में भी रही है!

नास्तिकों के मतों से लेकर सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों के मतों में जो एक बात सुस्थिर है, वह यह है। यहां तुच्छ और प्राप्य ऐसे दो पदार्थ हैं। यह दीखनेवाली सृष्टि तुच्छ है इसका त्याग करके प्राप्य ईश्वर की प्राप्ति करनी चाहिये। हरएक मतवाला ऐसा ही प्रतिपादन कर रहा है।

ईश्वर को माने या न माने, ईश्वर को दूर माने या समीप माने, ईश्वर के अवतार माने या न माने, ईश्वर को एकदेशी माने या सर्वव्यापक, इन सब मतों में यह संसार असार, त्याज्य, हेय, दुःख हेतु ही रहा है!! सब वस्तुओं में ईश्वर की सत्ता मानी जाने पर भी सब वस्तुओं का तुच्छत्व दूर नहीं हुआ, यह विशेष विचार करनेयोग्य बात है।

इसीलिये इन मतों के अनुसार ईश्वरप्राप्ति के अनुष्ठान में सृष्टि को वमन-कय-के समान त्याज्य समझना आवश्यक समझा गया, पूर्व जन्म के कर्मों के भोग भोगने के लिये इस जन्म की प्राप्ति हुई है, ऐसा माना जाने लगा, इस कारण जन्म ही बुरा हुआ। दोषों से जन्म होता है, अतः दोषमूलक जन्म है, इसलिये जन्म से छुटकारा पाने की इच्छा प्रबल हुई। जन्म से घृणा हुई। जन्म से जिस सृष्टि में जीव आता ह, वह सृष्टि भी घृणित ही मानी गयी। यह शरीर और यह संसार जेलखाना है, इससे छूटना चाहिये। जितना जल्दी छूटा जाय, उतना अच्छा है, ऐसे विचार शुरू हुए।

जन्म होनेसे दुःख होता है, इसलिये जन्म नहीं होना चाहिये। पूर्व दोषोंसे जन्म होता है, इसलिये जन्म ही दोषमूलक है, इस कारण जन्म और शरीर बडा घृणायोग्य है। इस शरीर में नाना दोष होते हैं, इसलिये यह पीपका और मैले का गोला कहा जाता है, अतः यह सदा मलिन होनेसे घृणित है, इस कारण इससे छुटकारा पाना चाहिये। कर्म-प्रवृत्ति से ही कर्म किये जाते हैं और कर्मों के कारण नाना दोष होते हैं। सब ही कर्म दोषमय हैं, इसलिये कर्मों का त्याग करना चाहिये, जिससे कर्म न होंगे, तो दोष नहीं होंगे और दोष न होंगे, तो शरीर धारण करना नहीं पडेगा, इस विचारधारा के अनुसार कर्म छोडने की ओर सब की प्रवृत्ति बढ गई।

मिथ्या ज्ञान से प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्तिसे कर्म होते हैं, कर्मोंसे दोष होते हैं, दोषोंसे भोग भोगने पडते हैं और

भोग भोगने के लिये शरीर लेना आवश्यक होता है, शरीर प्राप्त होनेपर इस शरीररूपी पीप और विष्ठाके गोलेमें रहना पडता है, और नाना दुःखों को भोगना पडता है। इस लिये मन ऐसा बनाओ, कि जहां किसी तरह कर्मकी प्रवृत्तिही न हो, ऐसी विचारधारा इनके संप्रदायोंमें शुरू हो गयी।

स्त्रीके कारण जन्म होता है, इसलिये स्त्री ही पाप की और दुःख की खान मानी जाने लगी। तथा स्त्रीके साथ रहना, गृहस्थाश्रममें रहकर संतान उत्पन्न करना बहुत बुरा है, ऐसा मानने की ओर प्रवृत्ति हुई। यह प्रवृत्ति इस समय में भी है। और इन सब विभिन्न मतवादियों में एक जैसी ही है। ईश्वर हरएक के हृदय में विराजमान होनेपर भी उक्त विचारधारामें बदल नहीं हुआ, यह एक आश्चर्य की ही बात है! पर यह बात ऐसी ही है, इसलिये उसको वैसा ही मानना यहां आवश्यक हुआ, अतः वैसा ही यहां लिखा है। पाठक इस का ठीक ठीक विचार करें।

शरीर की ओर तथा सब विश्व की ओर घृणा की दृष्टि से देखने की विचारधारा जो जैनबौद्धोंके मतों में थी, वही वैसी ही सुदूर स्थानमें ईश्वर माननेवाले सब संप्रदायों में रही, और सर्वव्यापक ईश्वरके माननेवाले इस संप्रदाय में भी प्रकट हुई है। इस का कारण यह है कि, जगत् की तुच्छता इस संप्रदाय में भी मानी जाती है, और जगत्‌को तुच्छ और दुःखमय माननेवालों के मतमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

ईश्वर सब वस्तुओं में है, पर सब वस्तुएं उससे पृथक् और भिन्न हैं, ईश्वर आनन्दस्वरूप है और यह संसार दुःखमय है। ईश्वर तीनों कालोंमें एक जैसा है, पर यह जगत् क्षणभंगुर है। ईश्वर चेतन है, पर यह जगत् जड है। किसी तरह ईश्वर के साथ इस जगत् की अथवा इस संसार की तुलना नहीं हो सकती।

जाल में फंसना।

यह संसार एक जाले के समान है। जिस तरह धीवर अपना जाल फैलाकर मत्स्योंको उस जाल में पकड लेता है, इसी तरह यह संसाररूप जाल सर्वत्र फैलाया है। सब जीव इसमें अटक गए हैं। यह बंधन है, यह क्लेशरूप है, यही दुःखका हेतु है, अतः इस जाल को तोडकर बाहर आ जाना चाहिये। यही कर्तव्य है। जब जीव जाल तोडकर बाहर पडेगा, तब वह सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होगा। इस तरह इस संसार को इन्होंने जाला बना दिया और यही विचारधारा संसार में शुरू हुई।

इस शरीर को पिंजरा ऐसा इन संप्रदायवालोंने कहा है, जैसा तोता पिंजरे में बंद किया जाता है, वैसा ही यह जीव इस शरीररूपी पिंजरेमें कैद किया गया है। इस पिंजरे से जब यह बाहर निकलेगा, तब यह जीव स्वतंत्र होगा, यही इसकी मुक्ति है। शरीरधारण ही बंधन है और जबतक कर्मानुसार शरीर धारण होता रहेगा, तबतक इस का बंदिवास, कारावास दूर नहीं होगा, इसलिये जन्म को हेतु जो कर्मवासना है, उस को जडसे काटना चाहिये, तब शरीर मिलने का हेतुरूप जो वासना का संबन्ध है, वह दूर होगा और इसकी मुक्तता इस पिंजरेसे होगी। इन सब संप्रदायोंमें यही विचारपरंपरा चली है और यही अब तक रही है।

ये सब संप्रदाय इस शरीरको ही पिंजरा नहीं मानते, प्रत्युत संपूर्ण संसार को ही बडा जेलखाना मानते हैं। अर्थात् इनके मतसे बडे जेलखाने में यह शरीररूपी एक कमरा है, जिसमें यह जीव कैद होकर पडा है। इनके मतानुसार शरीर न मिलने की अवस्थामें जीव स्वच्छंद संचार करेगा और स्वेच्छासंचार से अत्यंत सुख प्राप्त करेगा। अर्थात् इनको दो जेलों की दिवारें तोडनी हैं, एक शरीररूपी कमरे की दिवार और दूसरी संसाररूपी बडे जेलखाने की बडी दिवार। जब ये दिवारें इसके लिये टूटेंगी, तब इसको आनन्द में गोते लगाने का सुख प्राप्त होगा, तबतक इसकी यातनाएं कम होना कठिन है।

यह जो दिवारें तोडने की और जेल से बाहर पडने की कल्पना है, वह इन संप्रदायों में सर्वत्र है। सभी प्रायः ऐसा ही मानते हैं। इनके मत से यह संसार 'ब्रह्माण्ड' है। अर्थात् यह एक बडा (ब्रह्म-अण्ड) अण्डा है। जैसा मुर्गी आदिकों का अण्डा होता है, वैसा ही यह संसार एक बडा भारी अण्डा है। अण्डे में जिस तरह एक बाहर का कवच होता है, इसी तरह इस ब्रह्माण्ड के लिये एक बाह्य कवच है, जो यह आकाश है। जिस तरह अण्डे में पानी और कुछ गोलासा होता है, वैसा ही इस अण्डे में

समुद्र और पृथ्वी है। इस तरह यह बडा भारी अण्डा है। इसका भेद करने से बीच का जीवरूपी पक्षी बाहर आता है, अर्थात् मुक्त होता है, ठीक ऐसी ही इन्होंने कल्पना अपने संप्रदाय में कर रखी है।

वे मानते हैं कि, इस ब्रह्माण्ड के कवच में भी एक सुराख है, इसी सुराख का नाम ब्रह्मरन्ध्र है। इसी सुराख से मुक्त जीव बाहर अर्थात् इस ब्रह्माण्ड के बाहर जाते हैं और इस ब्रह्माण्ड के बाहर जाना ही मुक्ति है। जो ब्रह्मचर्य धारण करते, संन्यास लेते, तप करते, गृहस्थ-जीवन नहीं बिताते, वे सूर्यकिरण का अवलम्बन करते हुए सूर्यमण्डल में पहुँचते हैं, यही सूर्यमण्डल उस पूर्वोक्त ब्रह्मरन्ध्र पर ढक्कनसा है। इस सूर्यमण्डल पर पहुंचते ही पूर्वोक्त ज्ञानमार्गी इसी सूर्य के द्वारा दूसरी ओर पहुंचते हैं और इस ब्रह्माण्ड से बाहर निकल जाते हैं। ब्रह्माण्ड से बाहर निकलने के सुराख पर सूर्य ढक्कन है, इतना सत्य मानने से ज्ञानमार्गियों का सूर्यकिरणके सहारे सूर्यमण्डलतक पहुंचना और सूर्यके अन्तर्याम से सूर्य की दूसरी ओर पहुंचना और ब्रह्माण्ड से बाहर पडना, यह युक्तियुक्त प्रतीत होगा। परन्तु इसमें से एक भी कल्पना असत्य सिद्ध हुई, तो शेष कल्पनाओं का सबका सब संघात स्वयं ही टूट जाता है। अस्तु।

जो विवाह करते हैं, वे चन्द्रलोक में जाते हैं, यह क्षीण लोक है, यहां से उक्त सुराखतक पहुंचने का कोई साधन नहीं है, इसलिये ये वापस मृत्युलोकमें आते हैं और जरा, मृत्यु तथा जन्मके चक्रमें पडते हैं। इसलिये इस जन्म-मृत्यु से मुक्ति पाना आवश्यक है और इसलिये सूर्यलोकका आश्रय करके पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्माण्ड के बाहर पडना आवश्यक माना गया है, यही इनकी मुक्ति का साधन है।

अनेक ग्रंथोंमें इन मार्गोंका और इन सुराखोंका उल्लेख है, इसलिये यहां ग्रंथों के वचन दिये नहीं, केवल संक्षेप से पूर्वोक्त मार्गों का उल्लेख मात्र किया है। वचन देने से लेख का विस्तार बढ जाता, इसलिए यहां वचन नहीं दिये। जो शास्त्रपाठक हैं, वे इस बात का संबन्ध किन वचनों से है, यह सब ठीक तरह जान सकते हैं।

इस सब विवरण का तात्पर्य यही है कि, यह शरीर और यह सब संसार एक जेलखाना है, यहां रहना पूर्वदोषके कारण हुआ है, दोषक्षय का उपाय करना और पुनः दोष न हों, इस बारे में सावधानी रखना ही अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान से शरीरोत्पत्ति या पुनर्जन्म का बीज नष्ट हो जाता है। इस तरह पुनर्जन्म का बीज नष्ट करना ही मुक्ति का साधन है।

बीज का भूनना।

बीज का वृक्ष होता है, वृक्ष से बीज निर्माण होते हैं, उन बीजों से फिर वृक्ष बनते हैं, उनसे फिर बीज निर्माण होते हैं, इस तरह यह संसरण चलता है। अर्थात् इसी तरह प्राणियों में भी होता है। मानवों में भी देखिए स्त्री-पुरुषसंबन्ध से संतति होती है, उनसे फिर और आगे संतति का प्रवाह चलता है। इस तरह अखण्ड प्रवाह चलता जायगा, तो मुक्ति की सभावना ही नहीं होगी, यह भय इन संप्रदायोंके मन में खडा रहता है। इसलिये ये संप्रदाय 'ब्रह्मचर्य' अर्थात् स्त्रीपुरुषसंबन्ध का नाश करना चाहते हैं। यदि स्त्री और पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी हुए, तो आगे संसार बंद ही होगा। ऐसा करना इनको अभीष्ट है, पर परमेश्वरी योजना अटल होने से सब लोग ब्रह्मचर्य का अखण्ड परिपालन नहीं कर सकते, इस कारण संसार चलता रहता है, यह बात और है। पर ये चाहते तो यही हैं कि, संतान उत्पन्न न हो, क्योंकि जन्म प्राप्त हुआ, तो शरीर धारण होगा और शरीर रहने तक दुःखपरंपरा हट नहीं सकती। इसलिये जन्म न हो, इसलिये अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना है। इन्होंने यह कल्पना रची, पर इसमें इन को यश नहीं आया।

जिस तरह बीज भूना जाय तो उगता नहीं, अर्थात् संसरण बंद होता है, उसी तरह ब्रह्मचर्यादि तपसे वासना के बीज अथवा जीवबीज, जन्ममरण के बीज भूने जाते हैं, और इस कारण आगे जन्ममरणका कारण नहीं रहता। बीज भूनने का ही दृष्टान्त इन संप्रदायवालोंने दिया है। अर्थात् बीजके भूनने से जो बीजकी स्थिति होती है, वैसी जीवकी बने, ऐसा इनके लिए अभीष्ट है। इस सब का तात्पर्य इतनाही है कि जीव को जन्म प्राप्त न हो। इतना इनके मन में जन्म का भय बैठ गया है।

इन सब संप्रदायों के लेखों, प्रवचनों, व्याख्यानों और उपदेशों से जनता के मनपर जन्मके भयके विषय में ऐसा

जबरदस्त प्रभाव बैठा है कि, जो थोडीसी धार्मिक वृत्ति-वाला मनुष्य होगा, वह अपना जन्ममरणपरंपरासे बचाव का ही विचार करता रहता है। पुनः जन्म होगा, ऐसा किसी से कहा जाय, तो वह घबराता है! जन्ममरण-परंपरा से वह भयभीत हुआ है। इसलिये वह बोलता है कि, 'बस है, अब इससे छुटकारा ही मिलना चाहिये।'

ये लोक स्वयं शरीररूपी अस्थिमांस के पिंजरेमें रहने का अनुभव करते हैं और रातदिन इसी पिंजरेके विषय का दुःख करते रहते हैं। ब्रह्मांड से छुटकारा पाना भी इनके सामने वैसा ही प्रश्न सदा रहता है। इस कारण जिस समय ये अपने शरीर को देखते हैं, उस समय इन को दुःख होता है, और जब ये ब्रह्माण्ड की ओर देखते हैं, तब भी इनको महादुःख होता है। इस तरह शरीर को दोष-मूलक मानने के कारण इनके सामने अन्दर, बाहर सर्वत्र ही क्लेश का वायुमण्डल बना रहता है। इसी कारण नाना प्रकारके शरीरको क्लेश देनेवाले तपके प्रकार ये लोग करते रहते हैं, शरीर को कृश करनेके उपायों से ईश्वरप्राप्ति होगी, ऐसा इन्होंने माना है, इस कारण अनेकविध उपाय भी इन्होंने सोच रखे हैं।

शरीर दुःख का मूल है, किसी न किसी तरह यह क्षीण होकर नष्ट हो जाय और अपनी सब वासना पूर्णतया क्षीण हो जाय अथवा नष्ट हो जाय, तो वह अवस्था इनको चाहिये। इसलिये वासना का क्षय करने के पीछे ये पडे रहते हैं। और इसी उद्देश से इनके प्रयत्न चलते रहते हैं। ये कहते हैं कि, जैसी अशुभ वासना बंधनकारक है, वैसी ही शुभ वासना भी बंधनकारक है। इसलिये इनका प्रयत्न यह रहता है कि, मनमें जैसी अशुभ वैसी ही शुभ वासना भी न उठे और मनकी स्थिति बिलकुल वासना-शून्य हो जाय। इनका प्रयत्न इसी स्थिति की प्राप्ति के लिये ही रहता है, कितनी सिद्धि इसमें इनको मिलती है, वह हमें पता नहीं है।

बीजको भूनने के लिये इनके सब अनुष्ठान रहते हैं। बीज से वृक्ष न बने, यह इनकी इच्छा है। इसीलिये अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले संन्यासीहि सूर्यलोक में जाकर पूर्वोक्त रीतिसे मुक्त होते हैं, यह इन्होंने माना है। गृहस्थी तो चन्द्रलोक में जाकर पुनर्जन्म में सडनेवाले हैं, क्योंकि ये संतान उत्पन्न करते हैं, संसारचक्र चलाने की सहायता करते हैं। ब्रह्मचर्य से ही संसारचक्र बंद होने की संभावना है।

इनके मतसे बीजस्थिति अच्छी है और वृक्षस्थिति खराब है! ईश्वर जगद्बीज है, वह बीजस्थिति अच्छी है, वही प्राप्तव्य है, इसीलिये ईश्वरप्राप्तव्य है। जगद्बीज ईश्वर से संसारवृक्ष हुआ है। इस वृक्षकी शाखाएं जीवोंको लपेटती हैं और इनके बंधन में जीव फंसता है। इसलिये असंग शस्त्र से इन शाखाओं का छेदन करके वृक्ष को शाखा-रहित, पल्लवरहित, पुष्पफलरहित करना चाहिये, इतनाही नहीं, परन्तु मूल बीज को हि प्राप्त करना चाहिये। इनकी यह कल्पना है।

ईश्वर जगद्बीज है और संसार उसी से निर्माण हुआ सुपत्र, सुपुष्प और सुफलित हराभरा वृक्ष है। ये सब संप्रदाय जिनका पूर्व लेखों में उल्लेख किया है, वे इस हरे-भरे वृक्षको असंग शस्त्र से काटना चाहते हैं और मूल वृक्ष-बीज को प्राप्त करना चाहते हैं।

ईश्वर भिन्न है और विश्व अथवा जगत् उससे सर्वथा विभिन्न है, ऐसा मानने का यह परिणाम है कि जो पूर्वोक्त प्रकार की विचारसरणी में दिखाई देता है। ईश्वर जगत् से सर्वथा भिन्न है और जगत् ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। ऐसा विचार इन संप्रदायों ने माना है। इस विचारका ही परिणाम यह है जो जगत् को छोडने और ईश्वर को ही पकडने का यत्न करने में दिखाई देता है।

जिस समय दो पदार्थ सामने आ जाते हैं, उस समय दोनों में से जो सुखदायी है, उसी का ग्रहण मनुष्य करना चाहता है। यहां मानव के सामने ईश्वर और सृष्टि ये दो पदार्थ आ गये हैं। सृष्टि दुःखकारक है, यह बात इसने निश्चित की है, अतः शेष रहा ईश्वर, वही आनन्दघन होने से इसका प्राप्तव्य ठहरा है। जिस तरह विचार की प्रवृत्ति चली, उस तरह ऐसा ही परिणाम होना संभव है। जगत् तुच्छ है, दुःखकारक है, इसलिये त्यागनेयोग्य है, ईश्वर श्रेष्ठ है, सुखदायक है, इसलिये स्वीकारनेयोग्य है। इस विचार की बुनियादपर इन संप्रदायों के सब अनुष्ठान चले हैं। यद्यपि ईश्वर प्रत्येक वस्तु में है, तथापि प्रत्येक वस्तु उससे सर्वथा पृथक् है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ का त्याग

करके उसमें बसनेवाले ईश्वर को ढूंढना और प्राप्त करना चाहिये ।

अंतर्यामी ईश्वर ।

प्रत्येक पदार्थ के अन्दर ईश्वर रहता है । ईश्वर सर्व-व्यापक है, अर्थात् वह सर्व में है । वह अन्तर्यामी है, अतः वह प्रति वस्तु के अन्तर्भाग में ही प्राप्त हो सकता है । ईश्वर मनुष्य के अन्दर है, इस कारण उसको देखने के लिये अन्तर्मुख होना चाहिये ।

मनुष्य के हृदय में ईश्वर है, इसलिये उसको देखने के लिये अन्तर्मुख होना आवश्यक है । बहिर्मुख होनेसे जो दर्शन होगा, वह शरीर का दर्शन होगा, शरीर तो दुःख की खान है, इसलिये उसके दर्शन से क्या लाभ होगा ? वह तो हेय विषय है । परमेश्वर अन्दर है, इसलिये सब वृत्तियों को अन्तर्मुख करना चाहिये, और अपने अन्तःकरण में उसे देखना चाहिये ।

एक बार बहिर्मुखतामें दोष और अन्तर्मुखता से परम सुख प्राप्त होना है, ऐसा निश्चय हुआ, तो अन्तर्मुख होने की ओर सब की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है ।

योगसाधन ।

अष्टांगयोग का साधन इसी अन्तर्मुख प्रवृत्ति करने के लिये निर्माण हुआ है । शरीर का स्थिरीकरण इसमें प्रथम अवस्था में करना होता है । इसीलिये ' आसनों ' का अभ्यास है । आसनों के अभ्यास से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है । स्थिरतापूर्वक सुख देनेवाला आसन है । किसीएक आसनपर घण्टा, दो घण्टे बैठने का अभ्यास सुखपूर्वक होने लगा, तो एक प्रकार का स्थिरता का सुख अनुभव में आता है । यह इस से प्रत्यक्ष फल अनुभव में आ सकता है ।

शरीर की स्थिरता आसनों से सिद्ध होने के पश्चात् प्राणायाम से प्राण का स्थिरीकरण किया जाता है । शनैः शनैः प्राण को काबू में करने का यत्न होता है । प्राणायाम अनेक प्रकार के हैं और प्रत्येक प्राणायाम का फल अलग अलग है । पर सब प्राणायामों का मुख्य फल प्राण का स्थैर्य ही है । प्राण की चञ्चलता मृत्यु लानेवाली और प्राण की स्थिरता दीर्घायु देनेवाली तथा मनको स्थिरता देने-वाली है । प्राण स्थिर होने से मन स्थिर होता है और मन के स्थिर होने से प्राण की स्थिरता होती है । इस तरह प्राण और मन का संबन्ध अन्योन्याश्रित है । अर्थात् प्राण की स्थिरता जैसी जैसी होती जाती है, वैसा वैसा मन भी स्थिर होने लगता है ।

मन की स्थिरता से प्राण की स्थिरता और प्राण की स्थिरता से मन की स्थिरता होती है, इसीलिये प्राणायाम के साथ साथ मन से ध्यानधारणा करने से अधिक लाभ होता है । इस ध्यान में नेत्र-इंद्रिय का अधिक संबन्ध रहता है । अन्यान्य इंद्रियों के योग से भी सहायता मिलती है । इंद्रियों के सहयोग से ध्यान करने से मन का स्थिरीकरण अच्छी तरह होने लगता है । मनके स्थिरी-करण से प्राणस्थिरीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है । इस तरह प्राण और मन के स्थिरीकरण के अभ्यास परस्पर सहायक होते हुए बढते जाते हैं और अपूर्व, अभौतिक आनन्द देने लगते हैं ।

ध्यान-धारणा-समाधि की सिद्धि क्रमपूर्वक अभ्यास बढने से होती है । अधिकाधिक दृढ अभ्यास के ही ये नाम हैं । ध्यान के ही अभ्यास से मन की वृत्ति अन्तर्मुख होने लगती है और जितना अभ्यास बढता जाता है, उतनी वृत्तियों की अन्तर्मुखता सिद्ध होती है । इस अन्तर्मुखतामें प्रकाशदर्शन, नादश्रवण, सुगंधानुभव, उत्तम स्वाद का अनुभव होता है । ऐसे ऐसे प्रकाश दीखते हैं कि, जो कभी जगत् में दीखने में नहीं आते । ऐसे सुन्दर शब्द सुनाई देते हैं कि, जैसे इस जगत् में कभी सुनाई नहीं देते । स्वभावमधुर सुगंध आने लगता है, मुख में ऐसा स्वाद आने लगता है कि, जिसके सामने जगत् की मिठास तुच्छ है । मन और प्राण की स्थिरता, इंद्रियों की ध्यान में रति और वृत्तियों का अन्तर्मुख होना आदि से ये अनुभव आते हैं । मन की वृत्तियों के अन्तर्मुख होने से इस तरह अनेक लाभ होते हैं ।

प्राणायाम और ध्यानधारणा के बीचमें एक प्रत्याहारका अभ्यास है । जगत्में जो भोगविषय हैं, उनसे इंद्रियों को निवृत्त करने से यह अभ्यास सिद्ध होता है । भोगोंमें दोषों का दर्शन करने से उन भोगों से मन निवृत्त होता है, इस रीतिसे इसकी सिद्धि होती है । इस से मन भोगों की ओर भागता नहीं, शान्त होता है और आत्मध्यानमें

सिद्ध होने लगते हैं। इस तरह यह उपराम होने का अभ्यास अन्तिम सिद्धि के लिये सहायक होता है।

मन अन्तर्मुख करने का यह अभ्यास है। पूर्ण अन्तर्मुखता हुई, तो सहज ही समाधिसिद्ध होती है। और समाधि में कैवल्यता अथवा ईश्वरसाक्षात्कार होता है, ऐसा वे मानते हैं। आन्तरिक शक्तियों का अनुभव इस अनुष्ठान से होता है और आन्तरिक शक्तियाँ बाह्य शक्तियों से विलक्षण हैं, इस कारण ये अनुभव भी विलक्षण सुख के लिये कारण होते हैं। जो यहांतक पहुंचते हैं, उन का शरीर, प्राण, मन तथा बुद्धि अधिक कार्यक्षम होती है, इस में सन्देह नहीं है।

इस अन्तर्मुख होने के अभ्यासने और इस अभ्यास से आनेवाले अनुभवोंने बाह्य विश्वकी ओर घृणा की वृत्ति बढा दी है। बाह्य जगत् तुच्छ है, उससे उपराम होना चाहिये, और सब मनोवृत्तियां अन्दर की शक्तियों की खोज में लगानी चाहिये, ऐसा निश्चय होते ही, बाह्य जगत् की ओर घृणा, जो दीखता है, उसके विषयमें तुच्छ भाव और जो अदृश्य अन्तर्यामी सत्ता है, उसी के विषय में आदरभाव बढाने के लिये यह अनुष्ठान हेतु बन गया है।

जैनबौद्धों से लेकर सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों तक सब ही संप्रदाय एक मुख से जगत् को दुःखमूलक बताते और उस से निवृत्त होने का उपदेश करते आये हैं। जो योगसाधन ऊपर कहा है, वह न्यूनाधिक रीति से इन सभी संप्रदायों में है। कईयों में कुछ न्यून और कईयों में कुछ अधिक है, परन्तु जगत् की तुच्छता सब में समान ही है। एक संप्रदाय से दूसरे संप्रदाय में ईश्वर अधिक पास आने लगा है, परन्तु उसके समीप आने से भी सृष्टि की तुच्छता हटी नहीं है। और अनुष्ठानमें भी वही तुच्छता सर्वत्र समानतया प्रकट होती रही है।

पूर्वोक्त रीति से मन शान्त हुआ, बहिर्मुख वृत्तियां दूर हुई, तो उस समय बाह्य जगत् का अनुभव नष्ट होता है। ऐसी मनकी अवस्था होती है कि, जहां बाह्य जगत् का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। अन्दर ही अन्दर उपासक आनन्द में रहता है। यह आनन्द अपने अन्दर की [स्व-स्थ] स्थिति से प्राप्त होता है। जगत् की हलचल में जिस समय मन व्याप्त होता है, उस समय वह थकता है, कष्ट का अनुभव करता है, पर जिस समय वह अन्तर्मुख होकर स्व-स्थ होता है, उस समय कुछ भी थकावट नहीं होती, इतना ही नहीं, परन्तु इस का बल बढता है, आनन्दित वृत्ति होती है।

इसी अवस्था को समझते हैं कि, यह कृतकृत्यताकी अवस्था है। इस जगत् का भान छोडने पर यह आनन्द मिलता है, इसलिये इस को अभौतिक आनन्द मानते हैं।

इस जगत् को दुःखरूप मानने से इसको त्यागना है और ईश्वर की प्राप्ति का आनन्द प्राप्त करना है, यह एक वार निश्चित हुआ, तो ऊपर कहे योगमार्गके सिवाय दूसरा मार्ग सामने नहीं उपस्थित हो सकता। क्योंकि वह युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध दीखता है और इसके प्रत्येक अनुष्ठानकी सिद्धि भी प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। इस कारण इस योग-अभ्यास का महात्म्य सब संप्रदायों में प्रकट हुआ है।

ईश्वरप्राप्ति के इस से अधिक सुगम साधन भी अनेकानेक सन्मुख आ गये हैं। नामजप से लेकर अनेकविध उपासना के विधानोंतक ये मार्ग फैले हैं। ये सब इस समय भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये इन के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन सब अन्यान्य साधनों में पूर्वोक्त योगसाधन ही सर्वतोपरि श्रेष्ठ समझा जाता है और वह योग्य ही है।

अवतारवाद।

इस सर्वव्यापक ईश्वर को माननेवालों के संप्रदाय में अवतारवाद, साक्षात्कार, स्वप्न में महापुरुषदर्शन, ये सब सिद्धि के विविध प्रकार इनमें हैं। अवतारवाद मानने से अनेकविध अवतारोंका उपास्य रूपसे स्वीकार होना स्वाभाविक है। अवतार पहिले हुए थे, इस समय होते हैं और आगे भी होंगे, ऐसी इस संप्रदाय की धारणा है। अवतार मानने के कारण विभूतिपूजा, विग्रहाराधना, प्रतिमापूजा आदि अनेक विधि इस संप्रदाय में माने हैं, वह ठीक ही है। इस तरह उपासना के विविध प्रकार इस संप्रदाय में बढ गये हैं। तथा घटघट में व्यापक ईश्वर मानने के कारण सब अन्य संप्रदायों की अपेक्षा यह संप्रदाय सब से अधिक माननीय, आदरणीय और प्रभावशाली भी बना है। ईश्वर को सर्वव्यापक सिद्ध करने के कारण इस संप्रदाय के इस

मंतव्यका परिणाम शैववैष्णवों परही नहीं, परन्तु ईसाइयों के संप्रदाय पर भी इसका परिणाम हुआ है। और ऐसा स्थायी परिणाम होनेके कारण उस उस धर्म के आधारग्रंथों में भी इतस्ततः ऐसे वाक्य आ गये हैं कि, जिनका अर्थ घटपट में ईश्वर की सत्ता मानने, जैसा ही होता है।

एक ईश्वर की सार्वभौम सत्ता माननेपर तथा ईश्वरको सर्वव्यापक माननेपर दूसरी सृष्टि की सत्ता मानना कठिन है। क्योंकि एक ही स्थान में दो वस्तुओं का रहना असंभव है। जहां सृष्टि है, वहां ईश्वर नहीं और जहां ईश्वर होगा, वहां सृष्टि नहीं, ऐसा मानने की ओर मनकी प्रवृत्ति हो जाती है। सब भूतों में ईश्वर है, ऐसा मानने से इस का अर्थ सब भूत खोखले हैं, अतः वहां उस खोखलेपन में ईश्वर रहा है, ऐसा होता है।

इसी तरह ईश्वर में सब भूत हैं, ऐसा कहते ही ईश्वर में ऐसा स्थान है, जहां सब भूत रह सकते हैं, ऐसा ही मानना पडता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तब तो सर्वत्र ईश्वर ही अकेला है, ऐसा ही मानना पडेगा। दो या तीन पदार्थ ईश्वर के अतिरिक्त हैं और उन के साथ ईश्वर भी सर्वव्यापक है, इस कथन का तर्कदृष्टि से कुछ भी मूल्य नहीं है। तथापि ये लोग तथा द्वैतसिद्धांत को माननेवाले सब संप्रदाय ऐसा ही मानते आये हैं।

ये ईश्वर, प्रकृति और जीव को अनादि मानते हैं और वैसा मानते हुए ईश्वर को सर्वव्यापक भी मानते हैं! इस विषय में हम अगले लेखों में विशेष वर्णन करेंगे। पर यहां इन संप्रदायों के मंतव्य के विषय में कई विद्वानों का अनेक पदार्थ सर्वव्यापक नहीं होते, यह आक्षेप है, इतना ही निर्देश करना आवश्यक है, इसलिये यहां यह निर्देश किया है।

मुक्ति।

ईश्वरको सब भूतों में और सब भूत ईश्वरमें माननेवालों के मंतव्य के अनुसार मुक्ति का विचार कैसा माना जाता है, यह भी अब देखना चाहिये। जीव का स्वरूप अनेक प्रकार का यहां माना जाता है, अर्थात् इस मत को माननेवाले अनेक उपसंप्रदाय हैं, जो अनेक प्रकार का जीव का स्वरूप मानते हैं। जीवविषय में ये मतभेद सब के सब यहां विचार करने के लिये लेने की हमारी इच्छा नहीं है।

यहां इस विषय का विचार करने के लिये एकदो ही मतों का हम विचार करते हैं। ईश्वर को सब भूतों में और सब भूतों को ईश्वर में माननेवाले ईश्वर की एक सत्ता और भूतों की दूसरी सत्ता तो मानते ही हैं। सब भूत अथवा सब सृष्टि प्रकृति से निर्माण हुई है, ऐसा इन का मत होने के कारण ईश्वर और प्रकृति ये दो सत्ताएं इनके मत में मानी जाती हैं।

जीव की तीसरी सत्ता ये मानते हैं। ईश्वर सदा मुक्त है, अतः किसी साधन से सिद्ध बनने की आवश्यकता उस को नहीं है। प्रकृति तो जड है, इसलिये बद्धता और मुक्ति ये भाव प्रकृति के लिये मानना असंभव है। अर्थात् जिस तरह बद्धता और मुक्ति ईश्वर के लिये नहीं हैं, उसी प्रकार प्रकृति के लिये भी नहीं है। इसलिये इन दोनों के लिये धर्म नहीं है। ईश्वर नित्य मुक्त होने के कारण और प्रकृति जड होनेके कारण धर्मके बंधन से बाहर हैं। इस लिये इनके मतमें तीसरी सत्ता जीव की मानी है। इस जीव को बंधन होता है, मुक्ति प्राप्त करनी है, अतः मध्य अवस्था में धर्मनियमों के पालन करने की आवश्यकता है। ऐसा जीव मानने के कारण जीव की उन्नति के लिये धर्म मानना आवश्यक हुआ और इसी की उन्नति के लिये पूर्वोक्त साधन निश्चित किये गये हैं। जीव की सत्ता के विषयमें अनेक मतमतान्तर हैं। एक का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं है। तथापि जीव है, यही सब का मंतव्य है, इसलिये वही हम यहां लेते हैं। जीव की उत्पत्ति के विषय में अनेक मतभेद हैं, इसलिये उस विषयको हम छोड देते हैं।

जीव है और जीव को मुक्त होना है। जीव इस समय बद्ध अवस्था में आ गया है। इतना सब मानते हैं और इस में किसी का मतभेद नहीं है। जीव की उत्पत्ति, बंध के कारण और लक्षण तथा मुक्ति के लक्षण और साधन इनमें बडे मतभेद हैं। कई लोग मुक्ति नित्य मानते हैं और दूसरे कई अनित्य भी मानते हैं, यहां तक इस विषय में मतभेद हैं। अतः इन मतभेदों का उल्लेख भी यहां हम करना नहीं चाहते।

जीव इस समय बद्ध है, इसको मुक्त होना है। इतना माननेपर प्रश्न हो सकता है कि, किस रीति से यह मुक्त

होगा ? इस विषय में इन का कहना यह है कि, जीव जगत् की भोगलालसा में फंसा है। इस फंसने के कारण इस का बँध है। जगत् के भोगों की ओर से इस की दृष्टि हट जाय और वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ईश्वर में सुस्थिर हो जाय, तो इस की मुक्ति होगी। यहां पाठक ऐसी कल्पना करें कि, जीव बीच में है और वह जगत् की ओर भोगदृष्टि से देख रहा है, उस जीव के पीठ की ओर ईश्वर है, जीव के आंख जगत् की ओर लगे हैं, इस कारण वह ईश्वर को देख नहीं सकता। यदि उस की दृष्टि भोगों की ओर से हटेगी और ईश्वर पर स्थिर रहेगी, तो इस की मुक्ति होगी। संक्षेप से इन संप्रदायों का यही आशय है।

सृष्टि की ओर झुकने से गिरावट और ईश्वर की ओर झुकने से चढावट जीव की होती है। यही बंधमोक्ष की कल्पना है। इसीलिये सब मुमुक्षु जन भोगों से मन को हटाना चाहते हैं और ईश्वर में लगाना चाहते हैं।

मानवके सामने सृष्टि अथवा विश्व या जगत् प्रत्यक्ष है, जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसको देखना नहीं है, उसको त्याज्य मानना और ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं दीखता, किसी रीति से प्रत्यक्ष नहीं होता, उस को प्राप्तव्य मानना इनको अभीष्ट है। सब मुमुक्षुजन इसी यत्न में रहते हैं।

इन का कहना यह है कि, प्रयत्न करने से जीवमें ईश्वर के गुण स्थिर होते रहते हैं, इस तरह जीव में ईश्वरभाव बढता है और अन्तमें एक समय ऐसा आता है कि, वह पूर्णतया ईश्वरभाव से युक्त होता है, यही उसकी मुक्ति है। ईश्वरभाव से युक्त होते ही वह ईश्वर के साथ मिल जाता है।

माध्वमतानुयायी ऐसा कहते हैं कि मुक्ति में भी मुक्त जीव ईश्वरका सेवक ही रहता है, कभी ईश्वर नहीं बनता, शैव कहते हैं कि जीव का शिव बनता है और यह शिव में लीन होता है, पश्चात् सेव्यसेवकभाव नहीं रहता। आर्यसमाजी कहते हैं कि, यह मुक्ति प्रयत्न से अर्थात् निमित्त से प्राप्त है, इसलिये कुछ समय तक रहती है, पश्चात् यह जीव फिर जन्म लेता है। इस तरह सर्वव्यापक ईश्वर माननेवालों में भी मुक्ति के विषय में विलक्षण मतभेद हैं। तथापि मुक्ति में ईश्वरभाव जीव में रहता है, इतना तो सब एकमत से मानते हैं। जीवकी सत्ता बद्ध अवस्था में जैसी ईश्वर से पृथक् है, वैसी ही मुक्त अवस्था में भी पृथक् रहती है, ऐसा कइयों का कहना है और कई मानते हैं कि, जीव ईश्वर के साथ मिलता है, मुक्ति में, ईश्वर में मिल जाता है, पृथक् नहीं रहता। इस तरह नाना भेद हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है, इन सब संप्रदायों को मुक्ति का निश्चित ज्ञान नहीं है। यदि इन में से किसी एक का कहना सत्य होगा, तो दूसरों का अशुद्ध ठहरेगा। हम आगे इस का विशेष विचार करेंगे और देखेंगे कि, इन में सचाई की ओर अधिक कौन हैं। पर यहां हमने इन के मत ही केवल लिखे हैं, उन की परीक्षा नहीं की है।

ईश्वर की अनुभवक्षेत्र में दूरता।

ईश्वर सुदूर स्थान में माननेवाले ईश्वर को स्थान से दूर मानते हैं, अतः वह उनके लिये स्थान से अप्राप्य है। ईश्वर सदा है, इसलिये वह समीप रहे या दूर रहे, कालतः अप्राप्य वह नहीं हो सकता। परन्तु उसके पास सब जीवों की पहुंच ही नहीं है, ऐसा ये कहते हैं। घटघट में ईश्वर को माननेवाले भी अपना ईश्वर ज्ञानतः अप्राप्य अथवा दुष्प्राप्य मानते हैं। अर्थात् भक्त के हृदयमें परमेश्वर आकर भिड गया, तो भी वह वैसा ही अप्राप्य ही रहा है। सर्वव्यापक ईश्वर भी इसी कारण अप्राप्य अथवा दुष्प्राप्य ही रहा है। इतने मतमतांतर और संप्रदाय हुए, परन्तु ईश्वर को सुप्राप्य किसीने नहीं बताया। सभी कहते हैं कि, सहस्रों जन्म तप करते रहो, कभी वह मिले तो मिले। घटघट में ईश्वर मानने पर भी यही अवस्था रही है।

सब कहते हैं कि, 'ईश्वर पर विश्वास रखो, उसकी भक्ति करो, किसी दिन तुम्हारे सामने वह प्रकट होगा।' इस तरह आशा दिखाते हैं। इन से पूछा जाय कि, जिस को किसीने देखा नहीं, जिस के दर्शन की मुझे आशा नहीं, उस पर विश्वास किस तरह रखूं ? और जिस का बिलकुल पता नहीं, उस की भक्ति भी किस तरह करूं ? ऐसे प्रश्न पूछनेपर ये लोग कहते हैं कि, ये प्रश्न नास्तिकपन के हैं। इस तरह प्रश्न पूछने से अपना अविश्वास प्रकट होता है। अतः ऐसे प्रश्न पूछना योग्य नहीं।

इस तरह चारों ओर से तंगी है। पर ऐसा ही विश्वास चला आ रहा है और सब ऐसा ही मानते चले जाते हैं।

न देखें, अनुभव में न आये, वस्तु पर विश्वास नहीं रखा जाता, उस की भक्ति भी नहीं हो सकती। यह तो सरल और मामूली बात है। पर ईश्वरभक्त भी इस सरल बात को नहीं मानते। अस्तु।

यहां तक जो विचार हुआ, उस से यह स्पष्ट हुआ कि घटघट में ईश्वर है, ऐसा मानने पर भी ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, यह बात वैसी की वैसी ही रही है। ईश्वर सर्वत्र गुप्त है, ऐसा कहने के कारण दंभी लोगोंने नाना प्रकार के भुलभुलैय्ये ईश्वर के नाम पर रचे और अपनी आजीविका का मार्ग खुला कर रखा है। भोले लोग उस में जाकर फंसते हैं। ईश्वर को अपने हृदय में मानना और उसी के अनुभव से वंचित रहना, यह एक आश्चर्य ही है ! यदि ईश्वर इसी तरह सदा गुप्त ही रहेगा, तब तो वैदिक धर्म की विशेषता ही क्या रही ? ईश्वर की गुप्तता मानने के कारण इस ईश्वर के नाम पर दंभी लोगोंने जो अनर्थ किये हैं, वे किसी से छिपे नहीं है। इसीलिये वैदिक धर्म में जिस ईश्वर का वर्णन किया है, उस का स्वरूप अधिक स्पष्ट रीति से देखने की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। यही अगले लेखों में देखा जायगा।

ईश्वर ज्ञानतः दूर रहनेपर समाजव्यवस्था पर वैसे ही अनर्थ हुए हैं, जैसे स्थानतः दूर माननेवालों के मतों के कारण हुए दीखते हैं। इसी तरह सृष्टि अथवा जगत् की ओर घृणा से देखने के कारण भी वैसे ही अनर्थ हुए हैं। इन का वर्णन यहां फिरसे करने की आवश्यकता नहीं है। जिस जगत् में रहना है, उस जगत् को ही त्याज्य ठहराने के कारण इस जगत् में स्वर्गधाम बनाने की बात ही नहीं रही। और यहां सुव्यवस्था बनने के स्थानपर अनवस्था ही बढ गयी है। अतः जिन संप्रदायों में ईश्वर ज्ञानतः, स्थानतः और कालतः सुदूर है, और जिसमें जगत् दुःखमय माना जाता है, वे सब संप्रदाय मानवों की स्थिति सुधारने के लिये साधक नहीं हो सकते, यह बात यहां सिद्ध हुई।

द्वैतवाद।

अनेक संप्रदाय द्वैत को मान रहे हैं। द्वैत का आशय यह है कि, जीव, ईश्वर, प्रकृति में स्थायी भिन्नता मानना है, जीवजीवमें भी भेद है। इस तरह इन संप्रदायोंमें भेद, द्वैत अथवा द्वंद्व माना जाता है। द्वंद्वभाव जहां होगा, वहां लडाई, झगडे बढना अनिवार्य ही है। इस समयका समाज इसी द्वन्द्वपर आश्रित है। इस कारण इसमें वर्गकलह, राष्ट्रकलह, जातिकलह चल रहे हैं। बुनियाद ही द्वन्द्वकी होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक है।

जो अद्वैती हैं, वे अद्वैत अर्थात् 'दो नहीं' ऐसा मानते हैं, पर 'एक है' ऐसा नहीं कहते ! तथा ये व्यवहारमें भेदभाव को मानते ही हैं। इसलिये व्यवहार में द्वन्द्वभाव के कारण युद्ध और अशांति होना स्वाभाविक ही है।

इस तरह इस समय जितने संप्रदाय हैं, उन सब संप्रदायों के मन्तव्यों से जगत् की पहेली हल नहीं हो रही है, इसलिये हम अगले लेख में 'वेद का मंतव्य' क्या है, इस का विचार करके बतायेंगे, कि "वैदिक तत्त्वज्ञान" ही सब जगत् के अन्दर शांति और आनन्द स्थापन करने के लिये समर्थ है।

पाठक सावधानी से अगले लेख देखें—

वेद का रहस्य।

ग्यारहवां अध्याय।

सात नदियां।

[लेखक- श्री॰ श्रीअरविन्दजी, अनुवादक- श्री॰ स्वामी अभयदेवजी]

वेद सतत रूप से जलों या नदियोंका वर्णन करता है, विशेषकर दिव्य जलों का, 'आपो देवीः' या 'आपो दिव्याः' और कहीं कहीं उन जलों का जो कि अपने अन्दर प्रकाशमय सौर लोक के प्रकाशको या सूर्यके प्रकाश को रखते हैं, 'स्वर्वतीरपः।' जलों का संचरण जो कि देवताओं के द्वारा या देवताओं की सहायता से मनुष्योंद्वारा किया जाता है, एक नियत प्रतीक है। जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, जिन्हें कि मनुष्य को दिलाने के लिये देवता वृत्रों और पणियों के साथ निरन्तर युद्ध में संलग्न रहते हैं, वे तीन महान् विजयें हैं गौएं, जल और सूर्य या सौर लोक "गाः, अपः, स्वः।" प्रश्न यह है कि, क्या ये संकेत आकाश की वर्षाओं के लिये हैं, उत्तर भारत की नदियों के लिये हैं, जिन पर कि द्राविडियोंने अधिकार कर लिया था या आक्रमण किया था, जब कि वृत्र थे कभी द्रावीडी लोग और कभी उन के देवता, गौएं थीं, वे पशु जिन को कि वहां के बाशिन्दे "डाकुओं" ने आकर बसनेवाले आर्यों से छीन कर हस्तगत कर लिया था या लूट लिया था-- और पणि जो कि गोओं को छीनते या चुराते हैं, फिर वे ही थे, कभी द्रावीडी और कभी उनके देवता; अथवा इस का एक गम्भीरतर, एक आध्यात्मिक अर्थ है।

क्या 'स्वः' को विजय कर लेने का अभिप्राय केवल यह है कि, सूर्य जो कि उमडते हुए बादलोंसे ढक गया था या ग्रहण से अभिभूत था या रात्रि के अन्धःकार से घिरा हुआ था, वह फिर से पा लिया गया? क्योंकि यहां तो कम से कम यह नहीं हो सकता कि, सूर्यको आर्यों के पास से "काली चमडी के" और "बिना नाकवाले" मनुष्य-शत्रुओंने छीन लिया हो। अथवा 'स्वः' की विजय का अभिप्राय केवल यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को जीतनेसे है? और दोनोंमें से किसी भी अवस्थामें गौ, जल, सूर्य, अथवा गौ, जल और आकाश के इस विचित्रसे जोड का क्या अभिप्राय होता है? इस की अपेक्षा क्या यह ठीक नहीं है कि, यह प्रतीकात्मक अर्थों को देनेवाली एक पद्धति है, जिस में कि गौएं, जो कि 'गाः' इस शब्द के द्वारा गायों और प्रकाश की किरणों दोनों अर्थों में निर्दिष्ट हुई हैं, उच्चतर चेतना से आनेवाले प्रकाश हैं, जिन का कि, मूल उद्गम प्रकाश का सूर्य, सत्य का सूर्य है? क्या 'स्वः' स्वयं अमरता का लोक या स्तर नहीं है, जो कि उस-सर्वप्रकाशमय सूर्य के प्रकाश या सत्य से शासित है, जिसे कि, वेद में महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्' और सच्चा प्रकाश कहा गया है? और क्या दिव्य जल, 'आपो-देवीः, दिव्याः या स्वर्वतीः,' इस उच्चतर चेतना के प्रवाह नहीं हैं, जो कि मर्त्य मन पर उस अमरता के लोक से धारा के रूप में गिरते हैं?

निस्सन्देह यह आसान है कि, ऐसे संदर्भ या सूक्त बताये जा सकें, जिन में ऊपर से देखने पर इस प्रकार की किसी व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत न होती हो और उस सूक्त को यह समझा जा सकता हो कि, वह वर्षा को देने की प्रार्थना या स्तुति है अथवा पंजाब की नदियों पर हुए युद्ध का एक लेखा है। परन्तु वेद की व्याख्या जुदा-जुदा संदर्भों या सूक्तों को लेकर नहीं की जा सकती। यदि इस का कोई संगत और संबद्ध अर्थ होना है, तो हमें इस की व्याख्या समग्र रूप में करनी चाहिये। हो सकता है कि हम 'स्वः' और 'गाः' को भिन्न भिन्न संदर्भों में बिल्कुल ही भिन्न-भिन्न अर्थ देकर अपनी कठिनाइयों से पीछा छुडा लें- ठीक जैसे कि सायण 'गाः' में कभी गाय का अर्थ पाता है, कभी किरणों का और कभी, एक

कमाल के हृदय– लावव ' के साथ, वह जबर्दस्ती ही इस का अर्थ जल कर लेता है। × परन्तु व्याख्या की यह पद्धति केवल इस कारण ही युक्तियुक्त नहीं हो जाती, क्योंकि यह ' तर्कवाद–संमत ' और ' सामान्य बुद्धिके गोचर ' परिणाम पर पहुंचाती है। इस की अपेक्षा ठीक तो यह है कि, यह तर्क और सामान्य बुद्धि दोनों ही की अवज्ञा करती है। अवश्य ही इस के द्वारा हम जिस भी परिणाम पर चाहें पहुंच सकते हैं, परन्तु कोई भी न्यायानुकूल और निष्पक्षपात मन पूरे निश्चय के साथ यह अनुभव नहीं कर सकता कि, वही परिणाम वैदिक सूक्तों का असली मौलिक अर्थ है।

परन्तु यदि हम एक अपेक्षाकृत अधिक संगत प्रणाली को लेकर चलें, तो अनेकों दुर्लङ्घय कठिनाइयां विशुद्ध भौतिक अर्थ के विरोध में आ खड़ी होती हैं। उदाहरण के लिये हमारे सामने वसिष्ठ का एक सूक्त [७-४९] है, जो कि दिव्य जलों, ' आपो देवीः, आपो दिव्याः, ' के लिये है, जिस में कि द्वितीय ऋचा इस प्रकार है, ' दिव्य जल जो कि या तो खोदे हुवे नालों में प्रवाहित होते हैं या स्वयं उत्पन्न बहते हैं, वे जिन की गति समुद्र की ओर है, जो पवित्र हैं, पावक हैं, – वे दिव्य जल मेरी पालना करें।' यहां तो यह कहा जायगा कि, अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है; ये भौतिक जल हैं, पार्थिव नदियां या नहरें हैं– या यदि ' खनित्रिमाः ' शब्द का अर्थ केवल " खोदे हुए " यह हो, तो ये कुएं हैं– जिनको कि वसिष्ठ अपने सूक्तमें संबोधित कर रहा है और ' दिव्याः, ' दिव्य, यह स्तुति का केवल एक शोभापरक विशेषण है, अथवा यह भी संभव है कि, हम इस ऋचा का दूसरा ही अर्थ कर के और यह कल्पना करें कि यहां तीन प्रकार के जलों का वर्णन है,– आकाश के जल अर्थात् वर्षा, कुओं का जल, नदियों का जल। परन्तु जब हम इस सूक्त को समग्र रूप में अध्ययन करते हैं, तब यह अर्थ अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। क्योंकि सारा सूक्त इस प्रकार है—

" वे दिव्य जल मेरी पालना करें, जो समुद्र के सब से ज्येष्ठ (या सब से महान्) हैं, जो गतिमय प्रवाह के मध्य में से पवित्र करते हुए चलते हैं, जो कहीं टिक नहीं जाते, जिनको कि वज्रधारी, वृषभ इन्द्र ने काटकर बाहर निकाला है। (१) दिव्य जल जो कि या तो खोदी हुई नहरों में बहते हैं या स्वयं उत्पन्न बहते हैं, जिन की गति समुद्र की ओर है, जो पवित्र हैं, पावक हैं, वे दिव्य जल मेरी पालना करें। (२) जिन के मध्य में राजा वरुण प्राणियों के सत्य और अनृत को देखता हुआ चलता है, वे जो कि मधु–स्रावी हैं और पवित्र तथा पावक हैं– वे दिव्य जल मेरी पालना करें। (३) जिन में वरुण राजा, जिन में सोम, जिनमें सब देवता शक्ति का मद पाते हैं, जिनके अन्दर वैश्वानर–अग्नि प्रविष्ट हुआ है, वे दिव्य जल मेरी पालना करें। (४)।" +

यह स्पष्ट है कि, वसिष्ठ यहां उन्हीं जलों, उन्हीं धाराओं के विषय में कह रहा है, जिन का कि वामदेव ने वर्णन किया है,– वे जल जो कि, समुद्र से उठते हैं और बह कर समुद्र में चले जाते हैं, वह मधुमय लहर जो समुद्र से, उस प्रवाह से जो कि, वस्तुओं का हृदय है, ऊपर को उठती है, वे जो निर्मलता की धारायें हैं, 'घृतस्य

× इसी प्रकार वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द ' ऋतम् ' की कभी यज्ञ, कभी सत्य, कभी जल व्याख्या करता है और आश्चर्य तो यह कि ये सब भिन्न–भिन्न अर्थ एक ही सूक्त में और वह भी कुछ पांच या छः ऋचाओंवाले !

+ समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ १ ॥
या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ २ ॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ३ ॥
यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ४ ॥ (ऋ० ७।४९।१-४)

धाराः ' । वे अत्युच्च और सार्वत्रिक सचेतन सत्ता के प्रवाह हैं, जिन में कि वरुण मर्त्यों के सत्य और अनृत का अवलोकन करता हुआ गति करता है,- (देखिये, यह एक ऐसा वाक्यांश है, जो कि न तो नीचे आती हुई वर्षाओं की ओर लग सकता है न ही भौतिक समुद्र की ओर) । वेद का ' वरुण ' भारत का नैपच्यून (Neptune) नहीं है, नहीं यह ठीक-ठीक, जैसी कि पहले-पहल योरोपियन विद्वानों ने कल्पना की थी ग्रीक औरेनस (Ouranos) आकाश, है । वह है आकाशीय विस्तार का, एक उपरले समुद्र का, सत्ता की विस्तीर्णता का, इस की पवित्रता का अधिपति; उस विस्तीर्णता में, दूसरी जगह यह कहा गया है कि, उसने पथरहित असीम में पथ बनाया है, जिसके कि अनुसार सूर्य, सत्य और प्रकाश का अधिपति, गति कर सकता है । वहां से वह मर्त्य चेतना के मिश्रित सत्य और अनृत पर दृष्टि डालता है... और आगे हमें इस पर ध्यान देना चाहिये कि ये दिव्य जल वे हैं, जिन को कि इन्द्र ने काटकर बाहर निकाला है और पृथ्वी पर प्रवाहित किया है,- यह एक ऐसा वर्णन है जो कि, सारे वेद में सात नदियों के सम्बन्ध में किया गया है ।

यदि इस विषय में कोई संदेह हो भी कि वसिष्ठ की स्तुति के ये जल वे ही हैं, जो कि वामदेव के महत्वपूर्ण सूक्त के जल हैं, ' मधुमान् ऊर्मिः, घृतस्य धाराः ', तो वह संदेह ऋषि वसिष्ठ के एक दूसरे सूक्त ७. ४७ से पूर्णतया दूर हो जाता है । ४९ वें सूक्त में उसने संक्षेप से दिव्य जलों के विषय में यह संकेत किया है कि, वे मधुस्रावी हैं, ' मधुश्चुतः, ' और यह वर्णन किया है कि, देवता उन में शक्ति के मद का आनन्द लेते हैं, ' ऊर्जं मदन्ति;' इस से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि, मधु या मधुरता वह ' मधु ' है, जो कि ' सोम ' है, आनन्द की मदिरा है, जिस का कि देवताओं को मद चढा करता है । परन्तु ४७ वें सूक्त में वह अपने अभिप्राय को असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट कर देता है ।

" हे जलो ! उस तुम्हारी प्रधान लहर का जो कि इंद्र का पेय है, जिसे कि, देवत्व के अन्वेषकोंने अपने लिये रचा है, उस पवित्र, अदूषित, निर्मलता की प्रवाहक (घृतप्रुषम्), मधुमय (मधुमन्तम्), तुम्हारी लहर का आज हम आनन्द ले सकें (१)। हे जलो ! जलों का पुत्र (अग्नि), वह जो कि, आशुकारी है, तुम्हारी उस अति मधुमय लहर की पालना करे; उस तुम्हारी लहर का जिस में इंद्र वसुओं-सहित मद-मस्त हो जाता है, आज हम जो कि, देवत्व के अन्वेषण में लगे हैं, आस्वादन कर पायें (२) । सौ शोधक चालनियों में से छान कर पवित्र की हुई, अपनी स्वप्रकृति से ही मदकारक, वे दिव्य हैं और देवताओं की गति के लक्ष्यस्थान (उच्च समुद्र) को जाती हैं, वे इंद्र के कर्मों को सीमित नहीं करती, नदियों के लिये हवि दो, जो कि निर्मलता से भरपूर हो, (घृतवत्) (३) । वे नदियां जिन्हें कि, सूर्यने अपनी किरणों से रचा है, जिनमें से इंद्रने एक गतिमय लहर को काट कर निकाला है, हमारे लिये उच्चहित (वरिवः) को स्थापित करें । और तुम, हे देवो, सुख की अवस्थाओं के द्वारा सदा हमारी रक्षा करते रहो । (४) " *

यहां हमें वामदेव की ' मधुमान् ऊर्मिः, ' मधुमय मदजनक लहर मिलती है और यह साफ-साफ कहा गया है कि, यह मधु, यह मधुरता, सोम है, इन्द्र का पेय है । आगे चलकर ' शतपवित्राः ' इस विशेषण के द्वारा यह और भी स्पष्ट हो गया है, क्योंकि यह विशेषण वैदिक

---

* आपो यं वः प्रथमं देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळः ।
तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम ॥१॥
तमूर्मिमापो मधुमत्तमं वोऽपां नपादवत्वाशुहेमा ।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य ॥२॥
शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथः ।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत ॥३॥
याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुमूर्मिम् ।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥४॥ (ऋ. ७।४७।१-४)

भाषा में केवल ' सोम ' को ही सूचित कर सकता है; और हमें यह भी ध्यानमें लाना चाहिये कि, यह विशेषण स्वयं नदियों ही के लिये है और यह कि मधुमय लहर इन्द्रद्वारा उन नदियों में से बहा कर लाई गई है, जब कि इस का मार्ग पर्वतों पर वज्रद्वारा वृत्र का वध करके काटकर निकाला गया है। फिर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये जल सात नदियां हैं, जो कि इन्द्रद्वारा ' वृत्र ' के, अवरोधक के, आच्छादक के, पंजे से छुडा कर लाई गई हैं और नीचे को बहाकर पृथ्वी पर भेजी गई हैं।

ये नदियां क्या हो सकती हैं, जिन की लहर कि 'सोम' की मदिरा से भरपूर है, ' घृत ' से भरपूर है, ' ऊर्ज् से, शक्ति से, भरपूर है? ये जल क्या हैं जो कि देवों की गति के लक्ष्य की ओर प्रवाहित होते हैं, जो कि मनुष्य के लिये उच्च हित को स्थापित करते हैं ? पंजाब की नदियां नहीं, वैदिक ऋषियों की मनोवृत्ति में जंगलियों जैसी असम्बद्धता और विक्षिप्त चित्तों की सी असंगति रहती थी, इस प्रकार की कोई जंगली से जंगली कल्पना भी हमें इस के लिये प्रेरित नहीं कर सकती कि, हम उन के इस प्रकार के वचनों पर अपना इस प्रकार का अभिप्राय बना सकें। स्पष्ट ही ये सत्य और सुख के जल हैं जो कि उच्च, परम समुद्र से प्रवाहित होते हैं।

ये नदियां पृथ्वी पर नहीं, बल्कि द्युलोक में बहती हैं, 'वृत्र', वह जो कि, अवरोधक है, आच्छादक है, उस पार्थिव-चेतनापर जिसमें कि हम मर्त्य रहते हैं, इनके बहकर आने को रोके रखता है, जब तक कि ' इन्द्र, ' देवरूप मन, अपने चमकते हुए विद्युद्वज्रों से इस आच्छादक का वध नहीं कर देता और उस पार्थिव चेतना के शिखरों पर काट- काट कर वह मार्ग नहीं बना देता, जिस पर कि नदियों को बहकर आना होता है। वैदिक ऋषियों के विचार और भाषा की केवल एकमात्र इसी प्रकार की व्याख्या युक्तियुक्त, संगत और बुद्धिगम्य हो सकती है। बाकी जो रहा, उसे वसिष्ठ हमारे लिये पर्याप्त स्पष्ट कर देता है; क्योंकि वह कहता है कि ये वे जल हैं, जिन्हें कि सूर्य ने अपनी किरणोंद्वारा रचा है और जो कि पार्थिव गतियों के विसदृश, ' इन्द्र ' के, उच्च मन के, व्यापारों को सीमित या क्षीण नहीं करते। दूसरे शब्दों में ये महान् सत्य, ' ऋतम् बृहत् ' के जल हैं और जैसा कि हमने सर्वत्र देखा है कि, यह सत्य, सुख को रचता है, वैसा ही यहां हम पाते हैं कि ये सत्य के जल, ' ऋतस्य धाराः, ' जैसा कि दूसरे सूक्तों में उन्हें स्पष्ट ही कहा गया है ' (उदाहरणार्थ ५. १२.२ में कहा है, ' ओ सत्य के द्रष्टा, केवल सत्य का ही दर्शन कर, सत्य की अनेक धाराओं को- ऋतस्य धाराः- तोडकर निकाल ']+ — मनुष्य के लिये उच्च हित [वरिवः] को स्थापित करते हैं और उच्च हित है, सुख * दिव्य सत्ता का आनन्द।

तो भी न इन सूक्तों में नही वामदेव के सूक्त में सात नदियों का कोई सीधा उल्लेख आया है। इसलिये हम विश्वामित्र के प्रथम सूक्त [३.१] पर आते हैं, जो कि अग्नि के प्रति कहा गया है, और इस की दूसरी से लेकर चौदहवीं ऋचा तक को देखते हैं। यह एक लंबा संदर्भ है, परन्तु यह पर्याप्त आवश्यक है कि, इसे उद्धृत किया जाय और इस सारे का ही अनुवाद किया जाय।

प्राञ्चं यज्ञं चकृम वर्धतां गीः।
समिद्भिरग्निं नमसा दुवस्यन्।
दिवः शशासुर्विदथा कवीनां।
गृत्साय चित् तवसे गातुमीषुः ॥२॥
मयो दधे मेधिरः पूतदक्षो।
दिवः सुबन्धुर्जनुषा पृथिव्याः।
अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तः।
देवासो अग्निमपसि स्वसृणाम् ॥ ३ ॥
अवर्धयन् त्सुभगं सप्त यह्वीः।
श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा।
शिशुं न जातमभ्यारुरश्वा।
देवासो अग्निं जनिमन् वपुष्यन् ॥४॥
शुक्रेभिरङ्गै रज आततन्वान्।
क्रतुं पुनानः कविभिः पवित्रैः।
शोचिर्वसानः पर्यायुरपां।
श्रियो मिमीते बृहतीरनूनाः ॥५॥

+ ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि ऋतस्य धारा अनुतृन्धि पूर्वीः।

* निःसंदेह ' वरिवः ' शब्द का प्रायः अभिप्राय ' सुख ' होता भी है।

धन्राजा सीमनद्तीरदब्धा
दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः।
सना अत्र युवतयः सयोनी-
रेकं गर्भं दधिरे सप्तवाणीः ॥६॥
स्तीर्णा अस्य संहतो विश्वरूपा
घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्।
अस्थुरत्र धेनवः पिन्वमाना
मही दस्मस्य मातरा समीची ॥७॥
बभ्राणः सूनो सहसो व्यद्यौद्
दधानः शुक्रा रभसा वपूंषि।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य
वृषा यत्र वावृधे काव्येन ॥८॥
पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद
व्यस्य धारा असृजद् वि धेनाः।
गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभि
र्दिवो यह्वीभिर्न गुहा बभूव ॥९॥
पितुश्च गर्भं जनितुश्च बभ्रे
पूर्वीरेको अधयत् पीप्यानाः।
वृष्णे सपत्नी शुचये सबन्धू
उभे अस्मै मनुष्ये ३ नि पाहि ॥१०॥
उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धा-
ऽऽपो अग्निं यशसः सं हि पूर्वीः।
ऋतस्य योनावशयद् दमूना
जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम् ॥११॥
अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनां।
दिदृक्षेयः सूनवे भाऋजीकः।
उदुस्रिया जनिता यो जजाना-
ऽपां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः ॥१२॥
अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां
वना जजान सुभगा विरूपम्।
देवासश्चिन्मनसा सं हि जग्मुः
पनिष्ठं जातं तवसं दुवस्यन् ॥१३॥
बृहन्त इद् भानवो भाऋजीक-
मग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः।
गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्त-
रपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः ॥१४॥

"हमने [प्राञ्चं] प्रकृष्टतम की तरफ आरोहण करने के लिये [यज्ञं चकृम] यज्ञ किया है, हम चाहते हैं कि, [गीः] वाणी [वर्धतां] वृद्धि को प्राप्त हो। उन्होंने [देवोंने] [अग्निं] 'अग्नि' को, [समिद्भिः] उस की ज्वालाओं की प्रदीप्ति के साथ, [नमसा] आत्मसमर्पण के नमस्कार के साथ, [दुवस्यन्] उस के व्यापारों में प्रवृत्त किया है, उन्होंने [कवीनां] द्रष्टाओं के [विदथा] ज्ञानों को [दिवः] द्यौ से [शशासुः] अभिव्यक्त किया है और वे उस [अग्नि] के लिये [गातुं] एक मार्ग को [इषुः] चाहते हैं, [तवसे] इसलिये कि उस की शक्ति प्रकाशित हो सके [गृत्साय चित्], इसलिये कि उस की शब्द को पाने की इच्छा पूरी हो सके। (२)

"[मेधिरः] मेधा से भरपूर [पूतदक्षः] शुद्ध विवेक-वाला [जनुषा] अपने जन्म से [दिवः] द्यौ का [पृथिव्याः] और पृथिवी का [सुबन्धुः] पूर्ण सखा या पूर्ण निर्माता वह [अग्नि] [मयः] सुख को [दधे] स्थापित करता है, देवोंने [अप्सु अन्तः] 'जलों के अन्दर [स्वसॄणां अपसि] 'बहिनों' की क्रिया के अन्दर [दर्शतं] सुदृश्य रूप में 'अग्नि' को [अविन्दन् उ] पा लिया। [३]।

'[सप्त] सात [यह्वीः] शक्तिशाली [नदियों] ने उसे [अग्नि को] [अवर्धयन्] प्रवृद्ध किया [सुभगं] उसे जो कि पूर्ण रूपसे सुख का उपभोग करता है, [श्वेतं जज्ञानं] जो कि अपने जन्म से सफेद है, [अरुणं महित्वा] बड़ा होकर अरुण हो जाता है। वे [नदियां] [अभ्यारुः] उस के चारों ओर गईं और उन्हों ने उसके लिये प्रयत्न किया, [शिशुं न जातं अश्वा] उन्होंने जो कि नवजात शिशु के पास घोड़ियों के तुल्य थीं; [देवासः] देवोंने [अग्निं] अग्नि को [जनिमन्] उस के जन्मकाल में [वपुष्यन्] शरीर दिया। [४]

"(पवित्रैः कविभिः) पवित्र कविओं [ज्ञानाधिपतियों की सहायता से (क्रतुं) कर्मपरक संकल्प को (पुनानः) पवित्र करते हुए उसने [अग्नि ने] (शुक्रैः अंगैः) अपने साफ, चमकीले अंगों से (रजः) मध्यलोक को (आततन्वान्) ताना और रचा; (अपां आयुः परि) जलों के समस्त जीवन के चारों ओर (शोचिः वसानः) चोगे की तरह प्रकाश को पहने हुए उसने (श्रियः) अपने अन्दर

कान्तियों को (मिमीते) रचा जो कि, (बृहती:) विशाल तथा (अनूना:) न्यूनतारहित थीं। (५)।

" अग्नि ने (दिवः यह्वीः) द्युलोक की शक्तिशाली [नदियों] के इधर-उधर (सीं वव्राज) सर्वत्र गति की जो [नदियां] (अनदती) निगलती नहीं (अदब्धाः) न ही वे आक्रान्त होती हैं, (अवसानाः) वे वस्त्र पहने नहीं थीं, (अनग्ना:) नहीं वे नंगी थीं। (अत्र) यहां (सना) उन शाश्वत (युवतयः) और सदा युवती देवियों ने (सयोनीः) जो कि एक गर्भ से उत्पन्न हुई हैं, (सप्त-वाणी:) जो कि सात वाणी रूप थीं (एकं गर्भं दधिरे) एक शिशु को गर्भरूप से धारण किया है। (६)।

" (अस्य) इसके (संहतः) पुंजीभूत समुदाय (विश्वरूपा:) जो कि विश्वरूप थे, (घृतस्य योनौ) निर्मलता के गर्भ में (मधूनां स्रवथे) मधुरता के प्रवाह में (स्तीर्णा:) फैले पडे थे, (अत्र) यहां (धेनवः) प्रीणयित्री नदियां (पिन्वमाना:) अपने आप को पुष्ट करती हुई (अस्थुः) स्थित हुईं और (दस्मस्य) कार्य को पूरा करनेवाले देव [अग्नि] की (मातरा) दो माताएं (मही) विशाल तथा (समीची) समस्वर हो गईं। (७)।

" (बभ्राणः) उन से धारण किया हुआ (सहसः सूनो) ओ शक्ति के पुत्र ! (शुक्रा रभसा वपूंषि दधानः) चमकीले और हर्षोन्मादी शरीरों को धारण किये हुए तू (व्यद्यौत्) विद्योतमान हुआ। (मधुनः) मधुरता की (घृतस्य) निर्मलता की (धाराः) धारायें (श्चोतन्ति) निकल कर प्रवाहित हो रही हैं, (यत्र) जहां कि (वृषा) समृद्धि का ' बैल ' (काव्येन) ज्ञान के द्वारा (वावृधे) बढ कर बडा हुआ है। (८)।

" (जनुषा) जन्म लेते ही उसने (पितुः चित्) पिता के (ऊधः) समृद्धि के स्रोत को (अविदत्) ढूंढ निकाला और उसने (अस्य) उस [पिता] की (धाराः) धाराओं को (वि असृजत्) खुलाकर दिया, उस [पिता] की (धेनाः) नदियों को (वि [असृजत्]) खुला कर दिया। (शिवेभिः सखिभिः) अपने हितकारी सखाओं के द्वारा और (दिवः यह्वीभिः) आकाश की महान् [नदियों] के द्वारा उसने (गुहा चरन्तं) सत्ता के रहस्यमय स्थानों में विचरते हुए उसे (पिता को) पा लिया (न गुहा बभूव) तो भी स्वयं वह उसकी रहस्यमयता के अन्दर नहीं खो गया। (९)।

" उसने (पितुः च) पिता के और (जनितुः च) जनिता, उत्पन्न करनेवाले के (गर्भं) गर्भस्थ शिशु को (बभ्रे) धारण किया, (एकः) उस एक ने (पूर्वीः) अपनी अनेक माताओं का (पीप्यानाः) जो कि वृद्धि को प्राप्त हो रही थीं। [अधयत्] दुग्धपान किया, सुखोपभोग प्राप्त किया [अस्मै शुचये वृष्णे] इस पवित्र ' पुरुष ' में [के लिये] [मनुष्ये उभे] मनुष्य के अन्दर रहनेवाली ये जो दो शक्तियां [द्यौ और पृथिवी] सपत्नी सबंधू] एक समान पतिवाली, एक समान प्रेमीवाली होती हैं, ([उभे] निपाहि) उन दोनों की तू रक्षा कर। [१०]।

" [अनिबाधे उरौ] निर्बाध विस्तीर्णता में [महान्] महान् वह (ववर्ध) वृद्धि को प्राप्त हुआ [हि] निश्चय से [पूर्वीः आपः] अनेक जलोंने [यशसः] यशस्विता के साथ [अग्निं] अग्नि को [सं] सम्यक्तया प्रवृद्ध किया। [ऋतस्य योनौ] सत्य के स्रोत में वह [अशयत्] स्थित हुआ, [दमूना:] वहां उस ने अपना घर बना लिया, [अग्निः] अग्नि ने [जामीनां स्वसॄणां अपसि] अविभक्त हुई बहिनों के व्यापार में। [. ११]।

" [अक्रः] वस्तुओं में गति करनेवाला [न] और [बभ्रिः] उन्हें थामनेवाला वह [महीनां] महान् [नदियों] के [समिथे] संगम में [दिदृक्षेयः] दर्शन की इच्छा-वाला [सूनवे] सोम-रस के अभिषोता के लिये [भा ऋजीकः] अपनी दीप्तियों में ऋजु [जनिता] वह जो कि किरणों का पिता था, उसने अब [उस्रियाः] उन किरणों को [उत् जजान] उच्चतर जन्म दे दिया,—[अग्निः] उस अग्निने [अपां गर्भः] जो कि जलों का गर्भजात था, [यह्वः] शक्तिशाली और [नृतमः] सब से अधिक बलवान् था। [१२]

" [अपां] जलों के और [ओषधीनां] ओषधियों के= पृथ्वी के उपचयों के [दर्शतं] सुदृश्य [गर्भं] गर्भजात को [वना] आनन्द की देवी ने अब [विरूपं जजान] अनेक रूपों में पैदा कर दिया, [सुभगा] उसने जो कि साकल्यरूप से सुखवाली है। [देवासः चित्] देवता [मनसा] मन के द्वारा [सं जग्मुः हि] उस के चारों

और एकत्रित हुए और [दुवस्यन्] उन्होंने उसे उसके कार्य में लगाया [पनिष्ठं तवसं जातम्] जो कि प्रयत्न करने के लिये बड़ा बलवान् और बड़ा शक्तिशाली होकर पैदा हुआ था। [१३]

" [बृहन्त इद् भानवः] वे विशाल दीप्तियां [अग्निम्] अग्नि के साथ [सचन्त] संसक्त हो गईं, जो अग्नि कि [आ ऋजीकं] अपने प्रकाशोंमें ऋजु था और वे [विद्युतः न शुक्राः] चमकीली विद्युतों के समान थीं, [अपारे ऊर्वे] अपार विस्तार में [स्वे सदसि अन्तः] अपने स्वकीय स्थान में, अन्दर [गुहेव] सत्ताके गुह्य स्थानोंमें, मानो गुहा में [वृद्धं] बढते हुए उस [अग्नि] से उन्होंने [अमृतं दुहानाः] अमरताको दुहकर निकाला। [१४] । "

इस संदर्भ का कुछ भी अर्थ क्यों न हो,- और यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि, इस का कोई रहस्यमय अभिप्राय है और यह केवल कर्मकाण्डी जंगलियों की याज्ञिक स्तुति-मात्र नहीं है,— सात नदियें, जल, सात बहिनें यहां पंजाब की सात नदियां नहीं हो सकतीं । वे जल जिन में कि देवोंने सुदस्य अग्नि को खोजकर पाया है, पार्थिव और भौतिक धारायें नहीं हो सकतीं; यह अग्नि जो कि ज्ञानद्वारा प्रवृद्ध होता है और सत्य के स्रोत में अपना घर तथा विश्रामस्थान बनाता है, जिस की कि आकाश और पृथ्वी को स्त्रियां तथा प्रेमिकाएं हैं, जो कि दिव्य जलों द्वारा अपने निजी घर, निर्बाध विस्तीर्णता के अन्दर प्रवृद्ध हुआ है और उस अपार असीमता में निवास करता हुआ जो प्रकाशयुक्त देवों को परम अमरता प्रदान करता है, भौतिक आग का देवता नहीं हो सकता । अन्य बहुत से संदर्भों की भांति ही इस सन्दर्भ में वेद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का रहस्यमय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक स्वरूप अपने आप को प्रकट कर देता है, यह नहीं कि ऊपरी सतह के नीचे रह कर, यह नहीं कि, निरे कर्मकाण्ड के आवरण के पीछे छिप कर, किंतु खुले तौरपर, बलपूर्वक-बेबाक एक प्रच्छन्नरूप में, पर वह प्रच्छन्नता ऐसी जो कि पार-दर्शक है, जिस से कि वेद का गुह्य सत्य यहां, विश्वामित्र के सूक्त की नदियों के समान, " न आवृत, न ही नग्न " दिखाई देता है ।

हम देखते हैं कि, ये जल वे ही हैं जो कि, वामदेव के सूक्त के और वसिष्ठ के सूक्त के हैं, ' घृत ' और ' मधु ' से इनका निकट सम्बन्ध है,– " घृतस्य धारा अभि चाकशीमि..." — " घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्, श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य; " वे सत्य पर ले जाते हैं, वे स्वयं सत्य का स्रोत हैं, वे निर्बाध और अपार विस्तीर्णता के लोक में तथा यहां पृथ्वी पर प्रवाहित होते हैं । उन्हें अलङ्कारूप में प्रीणयित्री गौएं (धेनवः), घोडियां (अश्वाः) कहा गया है, उन्हें ' सप्तवाणीः, ' रचनाशक्ति रखनेवाली ' वाग् ' देवी के सात शब्द कहा गया है,– यह ' वाक् ' देवी है ' अदिति ' की, परम प्रकृति की, अभिव्यञ्जक शक्ति जिस का कि ' गाय ' रूप से वर्णन किया गया है, ठीक जैसे कि, देव या पुरुष को वेद में ' वृषभ ' या ' वृष्ण ' अर्थात् ' बैल ' कहा गया है । वे इसलिये सम्पूर्ण सत्ताके सात तार हैं, एक सचेतन सद्वस्तुके व्यापार की सात नदियाँ, धारायें या रूप हैं।

हम देखेंगे कि इन विचारों के प्रकाश में जिन्हें कि हमने वेद के प्रारंभ में ही मधुच्छन्दस् के सूक्त में पाया है और उन प्रतीकात्मक व्याख्याओं के प्रकाश में जो कि अब हमें स्पष्ट होने लगी हैं, यह संदर्भ जो कि इतना अधिक अलङ्कारमय, रहस्यमय, पहेली सा प्रतीत होता है, बिल्कुल ही सरल और संगत लगने लगता है, जैसे कि वस्तुतः ही वेद के सभी संदर्भ जो कि अभी लगभग अबुद्धिगम्य से प्रतीत होते हैं, तब सरल और संगत लगने लगते हैं– जब कि उन का ठीक मूल सूत्र मिल जाता है । हमें बस केवल अग्निके आध्यात्मिक व्यापार भर को नियत करना है, इस अग्नि के जो अग्नि कि पुरोहित है, युद्ध करनेवाला है, कर्मकर्ता है, सत्यको पानेवाला है, मनुष्यके लिये आनंद को अधिगत करानेवाला है; और अग्नि का वह आध्यात्मिक व्यापार हमारे लिये ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्नि-विषयक मधुच्छन्दस् के वर्णनद्वारा पहले से ही नियत हुआ-हुआ है,– ' वह जो कर्मों में द्रष्टा का संकल्प है, जो सत्य है और नानाविध अन्तःप्रेरणा का जो महाधनी है । + " अग्नि है देव, सर्व-द्रष्टा, जो कि सचेतन-शक्ति के रूप में व्यक्त हुआ है अथवा, आधुनिक भाषामें कहें, तो जो ' दिव्य-संकल्प ' या ' विश्व-संकल्प ' है, जो पहले गुहा में छिपा होता है और शाश्वत लोकों का निर्माण कर रहा होता है, फिर व्यक्त होता है, 'उत्पन्न'

+ कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।

होता है और मनुष्य के अन्दर सत्य तथा अमरत्व का निर्माण करता है।

इसलिये विश्वामित्र इस सूक्त में जो कहता है, वह यह है कि, देवता और मनुष्य आन्तरिक यज्ञ की अग्नियों को जला कर इस दिव्य शक्ति [अग्निदेव] को प्रदीप्त कर लेते हैं, वे इस के प्रति अपने प्रमाण और आत्म-समर्पण के द्वारा इसे कार्य करनेयोग्य बना लेते हैं, वे आकाश में अर्थात् विशुद्ध मनोवृत्ति में जिस का कि, प्रतीक 'द्यौः' है, द्रष्टाओं के ज्ञानों को, दूसरे शब्दों में जो मन से अतीत है, उस सत्य-चेतना के प्रकाशों को, अभिव्यक्त करते हैं और यह वे इसलिये करते हैं, ताकि वे इस दिव्य शक्ति के लिये मार्ग बना सकें, जो कि अपने पूरे बल के साथ, सच्ची आत्माभिव्यक्ति के शब्द को निरन्तर पाना चाहती हुई, मन से परे पहुंचने की अभीप्सा रखती है। यह दिव्य संकल्प अपनी सब क्रियाओं में दिव्य ज्ञान के रहस्य को रखता हुआ, 'कविक्रतुः,' मनुष्यके अन्दर मानसिक और भौतिक चेतना का, 'दिवः पृथिव्याः,' मित्रवत् सहायक होता है या उस का निर्माण करता है, बुद्धि को पूर्ण करता है, विवेक को शुद्ध करता है, जिस से कि वे विकसित होकर "द्रष्टाओं के ज्ञानों" को ग्रहण करनेयोग्य हो जाते हैं और उस अति-चेतन सत्य के द्वारा जो कि, इस प्रकार हमारे लिये चेतनागम्य कर दिया जाता है, वह दृढ रूप से हम में आनन्द को स्थापित कर देता है, [ऋचा २,३]।

इस संदर्भ के अवशिष्ट भागमें इस दिव्य सचेतन-शक्ति, 'अग्नि,' के मर्त्य और भौतिक चेतना से उठ कर सत्य तथा आनन्द की अमरता की ओर आरोहण करने का वर्णन है, जो अग्नि कि मर्त्यों में अमर है, जो कि, यज्ञ में मनुष्य के सामान्य संकल्प और ज्ञान का स्थान लेता है। वेद के ऋषि मनुष्य के लिये पांच जन्मों का वर्णन करते हैं, प्राणियों के पांच लोकों का जहां कि कर्म किये जाते हैं, पंचजनाः, पंचकृष्टीः, या पंचक्षितीः।" द्यौ और पृथिवी विशुद्ध मानसिक और भौतिक चेतना के द्योतक हैं, उन के बीच में है अन्तरिक्ष, प्राणमय या वात-मय चेतना का मध्यवर्ती या संयोजक लोक। द्यौ और पृथिवी हैं 'रोदसी,' हमारे दो लोक; पर इन को हमने पार कर जाना है, क्योंकि तभी हम उस अन्य लोक में प्रवेश पा सकते हैं जो कि विशुद्ध मन से अतिरिक्त एक और ऊपर का लोक है- बृहत्, विशाल लोक है जो कि, असीम चेतना, 'अदिति,' का आधार, बुनियाद [बुध्न] है। यह विशालता है वह सत्य जो कि सर्वोच्च त्रिविध लोक को, 'अग्नि' के, 'विष्णु' के उन उच्चतम पदों या स्थानों [पदानि, सदांसि] को, माता के, गौके, 'अदिति' के उन परम 'नामों' को थामता है। यह विशालता या सत्य 'अग्नि' का निजी या वास्तविक स्थान अथवा घर कहा गया है, 'स्वं दमम् स्वं सदः'। 'अग्नि' को इस सूक्त में पृथिवी से अपने स्वकीय स्थान की ओर आरोहण करता हुआ वर्णन किया गया है।

इस दिव्य शक्ति को देवोंने जलों में, बहिनोंकी क्रिया में, सुदृश्य हुआ पाया है। ये जल सत्य के सत्यरूप जल हैं, दिव्य जल हैं; जो कि हमारी सत्ता के उच्च शिखरों से इन्द्रद्वारा नीचे लाये गये हैं। पहले यह दिव्य शक्ति पार्थिव उपचयों, 'ओषधीः' के अन्दर, उन वस्तुओं के अन्दर जो कि पृथ्वी की गर्मी [ओष] को धारे रखती हैं, छिपी होती है और एक प्रकार की शक्ति के द्वारा, दो 'अरणियों'- पृथिवी और आकाश- के घर्षणद्वारा इसे प्रकट करना होता है। इसलिये इसे पार्थिव उपचयों [ओषधियों] का पुत्र और पृथिवी तथा द्यौः का पुत्र कहा गया है; इस अमर शक्ति को मनुष्य बडे परिश्रम और बडी कठिनाई से, भौतिक सत्ता पर पवित्र मन की क्रियाओं से पैदा करता है। परन्तु दिव्य जलों के अन्दर 'अग्नि' सुदृश्य रूप में पाया गया है [ऋचा ३ का उत्तरार्ध] और अपने सारे बल-सहित तथा अपने सारे ज्ञानसहित और अपने सारे सुखोप-भोगसहित आसानी से पैदा हो गया है, वह पूर्णतया सफेद और शुद्ध है, अपनी क्रिया से वह अरुण हो जाता है, जब कि वह प्रवृद्ध होता है। उस के जन्म से ही देवता उसे शक्ति, तेज और शरीर दे देते हैं; सात शक्ति-शाली नदियां उस के सुख में उसे प्रवृद्ध करती हैं; वे इस महिमाशाली नवजात शिशु के चारों ओर गति करती हैं और उसपर प्रयत्न करती हैं, जैसे कि घोडियां, 'अश्वाः' [ऋचा ४]।

नदियां जिन को कि बहुधा 'धेनवः' अर्थात् 'प्रीण-

चित्री गौएं' यह नाम दिया गया है, यहां 'अश्वाः' अर्थात् 'घोड़ियां' इस नाम से वर्णित हुई हैं, क्योंकि जहां 'गौ' ज्ञानरूपिणी चेतना का एक प्रतीक है, वहां 'अश्व,' घोड़ा, प्रतीक है शक्तिरूपिणी चेतना का। 'अश्व,' घोड़ा, जीवन की क्रियाशील शक्ति है, और नदियां जो कि पृथिवी पर अग्नि के चारों ओर प्रयत्न करती हैं, जीवन के जल हो जाती हैं, इस जीवन के, प्राणमय क्रिया या गति के, उस 'प्राण' के जो [प्राण] कि गति करता है और क्रिया करता है और इच्छा करता है, तथा भोगता है। अग्नि स्वयं भौतिक ताप या शक्तिके रूप से प्रारंभ होता है, फिर अपने आप को घोडे के रूप में प्रकट करता है और तभी फिर वह द्यौः की अग्नि बन पाता है। उस का पहला कार्य है कि, जलों के शिशु के रूप में वह मध्यलोक को, प्राणमय या क्रियाशील लोक को [रज आततन्वान्], अपने पूर्ण रूप और विस्तार और पवित्रता को देवे। अपने विशुद्ध, चमकीले अंगों से मनुष्य के अन्दर व्याप्त होता हुआ, इसकी अन्तःप्रवृत्तिओंको और इच्छाओं को, कर्मों में इस के पवित्र हुए संकल्प को [क्रतुम्], अतिचेतन सत्य और ज्ञान की पवित्र शक्तिओं के द्वारा, 'कविभिः पवित्रैः,' ऊपर उठाता हुआ वह मनुष्यके वातमय जीवन को पवित्र करता है। इस प्रकार वह जलों के समस्त जीवन के चारों ओर अपनी विशाल कांतियों को ओढता है, धारण करता है, जो कांतियां कि अब 'बृहतीः' विशाल हो गई हैं, वासनाओं और अन्यप्रेरणाओं की जीर्ण, शीर्ण तथा सीमित गतिमात्र नहीं रही हैं, [ऋचा ४,५]

सप्तविध जल इस प्रकार ऊपर उठते हैं और विशुद्ध मानसिक क्रियाएं, द्युलोक की शक्तिशाली नदियें, [दिवः यह्वीः] बन जाते हैं। वे वहां अपने आपको प्रथम शाश्वत सदा-युवति शक्तियोंके रूपमें, दिव्य मनकी सात वाणियों या आधारभूत रचनाशील ध्वनिओं, 'सप्तवाणीः' के रूप में प्रकट करती हैं, जो कि यद्यपि भिन्न धारायें हैं, पर उनका उद्गम एक ही है– क्योंकि वे सब एक ही पराचेतन सत्य के गर्भ में से निकली हैं। विशुद्ध मनका यह जीवन वातमय जीवन के सदृश नहीं है, जो कि अपनी मर्त्य सत्ता को स्थिर रखने के लिये अपने उद्देश्यों को निगलता रहता है; इस के जल निगलते नहीं, पर वे विनष्ट, विफल भी नहीं होते। वे हैं शाश्वत सत्य जो कि मानसिक रूपों के एक पारदर्शक आवरण में ढके हुए हैं; इसलिये यह कहा गया है, न वे वस्त्र पहने हुए हैं न हीं नग्न हैं [ऋचा ६]।

पर यह अन्तिम अवस्था नहीं है। यह शक्ति उठकर इस मानसिक निर्मलता के [घृतस्य] गर्भ या जन्मस्थान के अन्दर चली जाती है, जहां कि जलदिव्य मधुरता की धाराओं के रूप में प्रवाहित होते हैं [स्रवथे मधूनाम्]; वहां जिन रूपों को यह धारण करती है, वे विश्वरूप हैं, विशाल और असीम चेतनाके पुंजीभूत समुदाय हैं। परिणामतः निम्नतर लोक की जो प्रीणयित्री नदियां हैं, वे इस अवरोहण करती हुई उच्चतर मधुरता के द्वारा पुष्ट हो जाती हैं, और मानसिक तथा भौतिक चेतनायें, जो कि सर्वसाधक संकल्प की दो प्रथम मातायें हैं, सत्यके इस प्रकाशद्वारा, असीम सुख से आनेवाले इस पोषण के द्वारा अपनी समग्र विशालता के साथ पूर्ण रूपसे सम तथा समस्तर हो जाती हैं। वे 'अग्नि' की पूर्ण शक्ति को, उस की दीप्तियों की चमक को, उस के व्यापक रूपों, विश्वरूपों की महिमा और हर्षोन्माद को धारण करती हैं। क्योंकि जहां कि प्रभु, 'पुरुष,' 'समृद्धि का बैल,' अतिचेतन सत्य के ज्ञानद्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है, वहां सदा ही निर्मलता की धारायें और सुख की धारायें बहा करती हैं, [ऋचा ७,८]।

सब वस्तुओं का 'पिता' है प्रभु और पुरुष; वह वस्तुओं के गुह्य स्रोत के अन्दर, अतिचेतन के अन्दर छिपा हुआ है, 'अग्नि' अपने साथी देवों के साथ और सप्तविध 'जलों' के साथ अतिचेतन के अन्दर प्रवेश करता है, पर इस के कारण हमारी सचेतन सत्ता से बिना अदृश्य हुए ही वह वस्तुओं के 'पिता' के मधुमय ऐश्वर्यके स्रोत को पा लेता है और उन्हें पाकर हमारे जीवन पर प्रवाहित कर देता है। वह गर्भ धारण करता है और वह स्वयं ही पुत्र- पवित्र 'कुमार,' पवित्र पुरुष, वह एक, अपने विश्वमय रूप में आविर्भूत मनुष्य का अन्तःस्थ आत्मा- बन जाता है; मनुष्य के अन्दर रहनेवाली मानसिक और भौतिक चेतनाएं उसे अपने स्वामी और प्रेमी के रूप में स्वीकार करती हैं; परन्तु यद्यपि वह एक है, तो भी वह नदियों की, बहुरूप विराट् शक्तियों की अनेकविध गतिका आनन्द लेता है, [ऋचा ९,१०]।

इसके बाद हमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि, यह

असीम जिस के अन्दर कि वह प्रविष्ट हुआ है और जिस के अन्दर वह बढता है, जिस में कि अनेक 'जल' विजय-शालिनी यशस्विता के साथ अपने लक्ष्य पर पहुंचते हुए [यशसः] उसे प्रवृद्ध करते हैं, वह निर्बाध विशालता है, जहां कि 'सत्य' पैदा हुआ है, जो कि अपार निःसीमता है, उस का निजी स्वाभाविक स्थान है, जिस में कि अब वह अपना घर बनाता है। वहां 'सात नदियें,' 'बहिनें,' यद्यपि उन का उद्गम वही एक है, जो कि पृथिवी पर और मर्त्य जीवन में था- पृथक् पृथक् होकर अब कार्य नहीं करतीं, बल्कि इस के विपरीत वे अविच्छेद्य सहेलियां बन जाती हैं [जामीनाम् अपसि स्वसृणाम्]। इन शक्तिशाली नदियों के उस पूर्ण संगम पर 'अग्नि' सब वस्तुओं में गति करता है और सब वस्तुओं को थामता है; उसके दर्शन [दृष्टि] की किरणें पूर्णतया ऋजु, सरल होती हैं, अब वे किसतर कुटिलतासे प्रभावित नहीं होतीं, वह जिसमेंसे कि ज्ञान की किरणें, जगमगाती हुई गौएं, पैदा हुई थीं, अब उन्हें [किरणों या गौओं को] यह नया, उच्च और सर्वश्रेष्ठ जन्म दे देता है; अर्थात् वह उन्हें दिव्य ज्ञानमें, अमर चेतना में परिणत कर देता है, [ऋचा ११, १२]

यह भी उस का अपना ही नवीन और अन्तिम जन्म है। वह जो कि पृथिवी के उपचयों से शक्ति के पुत्र के रूप में पैदा हुआ था, वह जो कि जलों के शिशु के रूप में पैदा हुआ था। अब अपार, असीम में, 'सुख की देवी' के द्वारा, उस के द्वारा जो कि समग्र रूप से सुख ही सुख है अर्थात् दिव्य सचेतन आनन्द के द्वारा, अनेक रूपों में जन्म लेता है। देवता या मनुष्य के अन्दर की दिव्य शक्तियां मन का एक उपकरण के तौर पर प्रयोग करके वहां उस के पास पहुंचती हैं, उस के चारों ओर एकत्र हो जाती हैं, तथा इस नवीन, शक्तिशाली और सफलतादायक जन्म में उस को जगत् के महान् कार्य में लगाती हैं। वे, उस विशाल चेतना की दीप्तियां, इस दिव्य शक्ति के साथ संसक्त होती हैं, जो कि इस की चमकीली बिजलियों के समान लगती हैं और उस में से जो कि अतिचेतन में, अपार विशालता में, अपने निजी घर में रहता है, वे मनुष्य के लिये अमरता को दुहती हैं, ले आती हैं। [१३,१४]

तो यह है अलंकारों के पर्दे के पीछे छिपा हुआ गंभीर, संगत, प्रकाशमय अर्थ जो कि सात नदियों के, जलों के, पांच लोकों के, 'अग्नि' के जन्म तथा आरोहणके वैदिक प्रतीक का वास्तविक आशय है, जिस को कि इस रूप में भी प्रकट किया गया है कि, यह मनुष्यकी तथा देवताओं की- जिन की कि प्रतिकृति मनुष्य अपने अन्दर बनाता है- ऊर्ध्वमुख यात्रा है, जिस में वह सत्ता की विशाल पहाडी के सानुसे सानुतक [सानोः सानुम्] पहुंचता है। एक बार यदि हम इस अर्थ को प्रयुक्त कर लें और 'गौ' के प्रतीक तथा 'सोम' के प्रतीक के वास्तविक अभिप्राय को हृदयङ्गम कर लें और देवताओंके आध्यात्मिक व्यापारों के विषय में ठीक ठीक विचार बना लें, तो इन प्राचीन वेदमंत्रों में जो ऊपर से दीखनेवाली असंगतियां, अस्पष्टतायें तथा कष्टसाध्य; क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती हैं, वे सब क्षणभर में लुप्त हो जाती हैं। वहां स्पष्ट रूपमें, बडी आसानीके साथ, बिना खींचतानी के प्राचीन रहस्य-वादियों का गंभीर और उज्ज्वल वाद, वेदका रहस्य, अपने स्वरूप को खोल देता है।

सार्वदेशिक का श्री श्रद्धानन्दांक।

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद द्वितीय संस्करण	५)	१)	॥)	१॥)
(छप रहा है)	१५)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साडे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाकव्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्त यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य-सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

(२४५) कस्मै । अद्य । सुऽजाताय । रातऽहव्याय । प्र । ययुः । एना । यामेन । मरुतः ॥ १२ ॥

(२४६) येन । तोकाय । तनयाय । धान्यम् । बीजम् । वहध्वे । अक्षितम् ।
अस्मभ्यम् । तत् । धत्तन । यत् । वः । ईमहे । राधः । विश्वऽआयु । सौभगम् ॥१३॥

(२४७) अति । इयाम । निदः । तिरः । स्वस्तिऽभिः । हित्वा । अवद्यम् । अरातीः ।
वृष्ट्वी । शम् । योः । आपः । उस्रि । भेषजम् । स्याम । मरुतः । सह ॥ १४ ॥

अन्वयः— २४५ अद्य मरुतः एना यामेन कस्मै रात-हव्याय सु-जाताय प्र ययुः?

२४६ येन तोकाय तनयाय अ-क्षितं धान्यं बीजं वहध्वे, यत् राधः वः ईमहे तत् विश्व-आयु सौभगं अस्मभ्यं धत्तन।

२४७ (हे मरुतः!) स्वस्तिभिः अवद्यं हित्वा अरातीः तिरः निदः अति इयाम, वृष्ट्वी योः शं आपः उस्रि भेषजं सह स्याम।

अर्थ- २४५ (अद्य) आज (मरुतः) वीर मरुत् (एना यामेन) इस रथ में से (कस्मै) भला किस (रात-हव्याय) हविष्यान्न देनेवाले एवं (सु-जाताय) कुलीन मानव की ओर (प्र ययु.) चले जा रहे हैं?

२४६ (येन) जिससे (तोकाय तनयाय) पुत्रपौत्रों के लिए (अ-क्षितं) न घटनेवाले (धान्यं बीजं) अनाज तथा बीज (वहध्वे) ढोकर लाते हो, (यत् राधः) जिस धनके लिए (वः) तुम्हारे पास हम (ईमहे) आते हैं, (तत्) वह और (विश्व-आयु) दीर्घ जीवन एवं (सौभगं) अच्छा ऐश्वर्य (अस्मभ्यं धत्तन) हमें दे दो।

२४७ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (स्वस्तिभिः) हित कारक उपायों द्वारा (अवद्यं हित्वा) दोष नष्ट करके (अरातीः) शत्रुओं का एवं (तिरः निदः) गुप्त निन्दक का हम (अति इयाम) पराभव कर सकें। हमें (वृष्ट्वी) शक्ति, (योः शं) एकतासे उत्पन्न होनेवाला सुख, (आपः) जल तथा (उस्रि भेषजं) तेजस्वी औषधी (सह स्याम) एक ही समय मिले।

भावार्थ- २४५ प्रश्न है कि, भला आज दिन किस जगह मरुत् पहुँचना चाहते हैं? (उधर हम भी चलें।)

२४६ हमें धन, धान्य, ऐश्वर्य तथा बल चाहिए। हमें ये सभी बातें उपलब्ध हों।

२४७ स्वस्ति तथा क्षेम हमें मिल जाए। हमारे सभी शत्रु विनष्ट हों। ऐक्यभाव से उत्पन्न होनेवाला सुख, शक्ति, जल, परिणामकारक औषधियाँ हमें मिल जायँ।

टिप्पणी-[२४७] (१) योः = (यु = जोडना = एकता) एकतासे। (२) स्वस्ति (सु+अस्ति) = अच्छी दशा में रहना। (३) अ-राति = अनुदार, शत्रु। (४) निद् = निंदक, दुश्मन।

(२४८) सुऽदेवः । समह । असति । सुऽवीरः । नरः । मरुतः । सः । मर्त्यः ।
यम् । त्रायध्वे । स्याम । ते ॥ १५ ॥

(२४९) स्तुहि । भोजान् । स्तुवतः । अस्य । यामनि । रणन् । गावः । न । यवसे ।
यतः । पूर्वान्ऽइव । सखीन् । अनु । ह्वय । गिरा । गृणीहि । कामिनः ॥ १६ ॥

(ऋ० ५।५४।१-१५)

(२५०) प्र । शर्धाय । मारुताय । स्वऽभानवे । इमाम् । वाचम् । अनज । पर्वतऽच्युते ।
घर्मऽस्तुभे । दिवः । आ । पृष्ठऽयज्वने । द्युम्नऽश्रवसे । महि । नृम्णम् । अर्चत ॥ १ ॥

अन्वयः— २४८ (हे) नरः मरुत ! यं त्रायध्वे सः मर्त्यः सु-देवः, स-मह, सु-वीरः असति. ते स्याम।

२४९ स्तुवतः अस्य भोजान् यामनि, गावः न यवसे, रणन् स्तुहि, यतः पूर्वान्इव कामिनः सखीन् ह्वय, गिरा अनु गृणीहि।

२५० स्व-भानवे पर्वत-च्युते मारुताय शर्धाय इमां वाचं प्र अनज, घर्म-स्तुभे दिवः पृष्ठ-यज्वने द्युम्न-श्रवसे महि नृम्णं आ अर्चत।

अर्थ- २४८ हे (नरः मरुतः !) नेता वीर मरुतो ! (यं) जिसे (त्रायध्वे) तुम बचाते हो, (सः मर्त्यः) वह मनुष्य (सु-देवः) अत्यन्त तेजस्वी, (स-मह) महत्तासे युक्त और (सु-वीरः) अच्छा वीर (असति) होता है। (ते स्याम) हम भी वैसे ही हों।

२४९ (स्तुवतः अस्य) स्तवन करनेवाले इस भक्त के यज्ञ में (भोजान्) भोजन पाने के लिए (यामन्) जाते समय (गावः न यवसे) गौएँ जिस तरह घासकी ओर जाती हैं वैसे ही, (रणन्) आनन्द-पूर्वक गरजते हुए जानेवाले इन वीरों की (स्तुहि) प्रशंसा करो, (यतः) क्योंकि वे (पूर्वान्इव) पहले परिचित तथा (कामिनः) प्रेमभरे (सखीन्) मित्रों के समान अपने सहायक हैं। उन्हें (ह्वय) अपने समीप बुलाओ और (गिरा) अपनी वाणी से उनकी (अनु गृणीहि) सराहना करो।

२५० (स्व-भानवे) स्वयंप्रकाश और (पर्वत-च्युते) पहाडों को भी हिलानेवाले (मारुताय शर्धाय) मरुतों के बल के लिए (इमां वाचं) इस अपनी वाणी को-कविता को तुम (प्र अनज) भली भाँति सँवारो, अलंकृत करो। (घर्म-स्तुभे) तेजस्वी वीरों की स्तुति करनेहारे, (दिवः पृष्ठ-यज्वने) दिव्य स्थान से पीछे से आकर यजन करनेवाले और (द्युम्न-श्रवसे) तेजस्वी यश पानेवाले वीरोंको (महि नृम्णं) विपुल धन देकर (आ अर्चत) उनकी पूजा करो।

भावार्थ- २४८ जिन्हें वीरों का संरक्षण प्राप्त होवे, वे बडे तेजस्वी, महान तथा वीर होते हैं। हम उसी प्रकार बनें।

२४९ भक्त के यज्ञों में जाते समय इन वीरों को बडा भारी हर्ष होता है। चूँकि ये सब का हित चाहते हैं, इसलिए इनकी स्तुति सब को करनी चाहिए।

२५० अलंकारपूर्ण काव्य वीरों के वर्णन पर बनाओ और उन्हें धन देकर उनका सत्कार करो।

टिप्पणी- [२४९] (१) भोजः = (भुज्- पालनाभ्यवहारयोः = भोग प्राप्त करनेहारा। (२) यामन् = पूजा, यज्ञ, गति, हलचल, चढाई, हमला। (३) अनु+गॄ प्रोत्साहन देना, अनुग्रह करना, सराहना करना, उमंग बढाना।

[२५०] (१) यज् = देना, यज्ञ करना, सहायता प्रदान करना, पूजा-संगति-दानात्मक कार्य करना। (२) पृष्ठ = पीठ, पीछे से। (३) घर्म = (घृ = क्षरणदीप्त्योः) प्रकाशमान, तेजस्वी, उष्ण। (४) पृष्ठ-यज्वा = पीछे से अर्थात् किसी को भी विदित न हो, इस ढंग से सहायता देनेवाला। (५) नृम्णं = (नृ-मन) = मानवी मन, जो मानवी मन को बरबस अपनी ओर खींच के ऐसा धन।

(२५१) प्र । वः । मरुतः । तविषाः । उदन्यवः । वयःऽवृधः । अश्वऽयुजः । परिऽज्रयः ।
सम् । विऽद्युता । दधति । वाशति । त्रितः । स्वरन्ति । आपः । अवना । परिऽज्रयः ॥२॥
(२५२) विद्युत्ऽमहसः । नरः । अश्मऽदिद्यवः । वातऽत्विषः । मरुतः । पर्वतऽच्युतः ।
अब्दऽया । चित् । मुहुः । आ । ह्रादुनिऽवृतः । स्तनयत्ऽअमाः । रभसाः । उत्ऽओजसः ॥ ३ ॥

अन्वयः— २५१ (हे) मरुतः ! वः तविषाः उदन्यवः वयो-वृधः अश्व-युजः प्र परि-ज्रयः त्रि-तः विद्युता सं दधति वाशति परि-ज्रयः आपः अवना स्वरन्ति ।

२५२ विद्युत्-महसः नरः अश्म-दिद्यवः वात-त्विषः पर्वत-च्युतः ह्रादुनि-वृतः स्तनयत्-अमाः रभसाः उत्-ओजसः मरुतः मुहुः चित् आ अब्दया ।

अर्थ- २५१ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः तविषा) तुम्हारे बलवान्, (उदन्-यवः) प्रजाके लिए जल देनेवाले, (वयो-वृधः) अन्नकी समृद्धि करनेहारे तथा (अश्व-युजः) रथोंमें घोडे जोडनेवाले वीर जब (प्र परि-ज्रयः) बहुत वेगसे चतुर्दिक् घूमने लगते हैं और तुम्हारा (त्रि-तः) तीनों ओर फैलनेवाला संघ (विद्युता सं दधाति) तेजस्वी वज्रोंसे सुसज्ज होता है और (वाशति) शत्रुको चुनौती देता है, तब (परि-ज्रयः) चारों ओर विजय देनेवाला (आपः) जीवन, जल (अवना) पृथ्वी पर (स्वरन्ति) गर्जना करते हुए संचार करता है ।

२५२ (विद्युत्-महसः) बिजली के समान बलवान्, (नरः) नेता, (अश्म-दिद्यवः) हथियारोंके चमकने से तेजस्वी, (वात-त्विषः) वायु के समान गतिशील एवं तेजस्वी, (पर्वत-च्युतः) पहाडों को हिलानेवाले, (ह्रादुनि-वृतः) वज्रोंसे युक्त, (स्तनयत्-अमाः) घोषणा करने की शक्तिसे युक्त, (रभसाः) वेगवान्, (उत्-ओजसः) अच्छे बलशाली वे (मरुतः) वीर मरुत् (मुहुः चित्) बारंबार (आ अब्दया) चारों ओर जल देना चाहते हैं- शत्रुको अपना सच्चा तेज दिखाते हैं ।

भावार्थ- २५१ बलिष्ठ वीर सैनिक प्रजा के लिए जल की व्यवस्था करते हैं, अन्न को वृद्धिंगत करते हैं, रथों में घोडे जोडकर चारों ओर घूमकर समूची हालत को स्वयं ही देख लेते हैं और विजयी बन जाते हैं । बडे अच्छे प्रबंध से अपने हथियार समीप रख लेते हैं और यत्रतत्र विजयपूर्ण वायुमंडल का सृजन करते हैं, तथा भूमंडल पर नहरों से या अन्य किन्हीं उपायों से जल को चहुँ ओर पहुँचा देते हैं ।

२५२ तेजस्वी नेता शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित बनकर पहाडों तक को विकंपित कर देनेकी अपनी क्षमता को बढाते हैं और दुश्मन को आह्वान देकर अवश्य ही उन्हें अपना बल दर्शाते हैं ।

[मेघविषयक अर्थ] बिजली चमक रही है, (अश्म) ओले गिर रहे हैं, भारी तूफान हो रहा है, दामिनी की दहाड सुनाई दे रही है, वायुवेग से जान पडता है कि, मानों पहाड उड जायेंगे । इसके बाद मूसलाधार वर्षा हो चहुँ ओर जल ही जल दीख पडता है ।

टिप्पणी- [२५१] (१) उदन्यु = (उदन् + यु = उदक + योजना) प्यासा, जल ढूंढनेवाला, पानी से युक्त होनेवाला । (२) वयस् = अन्न, शरीरप्रकृति, बल, आयुष्य । (३) त्रि-त = (त्रि + ताय् = सन्तान-पालनयोः) तीनों ओर पंक्ति में जानेवाला (त्रिपु स्थानेषु तायमानः-सायनभाष्य) (४) तविष = (तु गति-वृद्धि-हिंसार्थे) बल, शक्ति, सामर्थ्य । (५) परि-ज्रयः (ज्रि जये) चारों दिशाओं में विजयी, चतुर्दिक् गमन, चहुं ओर खलबली । (६) आप् = (आप् व्याप्तौ) = व्यापक, आकाश, जल, जीवन ।

(२५३) वि । अक्तून् । रुद्राः । वि । अहानि । शिक्वसः । वि । अन्तरिक्षम् । वि । रजांसि । धूतयः ।
वि । यत् । अज्रान् । अजथ । नावः । ईम् । यथा । वि । दुःऽगानि । मरुतः । न । अह । रिष्यथ ॥ ४ ॥

(२५४) तत् । वीर्यम् । वः । मरुतः । महिऽत्वनम् । दीर्घम् । ततान । सूर्यः । न । योजनम् । एताः । न । यामे । अगृभीतऽशोचिषः । अनश्वऽदाम् । यत् । नि । अयातन । गिरिम् ॥ ५ ॥

अन्वयः— २५३ (हे) धूतयः शिक्वसः रुद्राः मरुतः ! यत् अक्तून् वि, अहानि वि, अन्तरिक्षं वि, रजांसि वि अजथ, यथा नावः ईं अज्रान् वि, दुर्गाणि वि, न अह रिष्यथ।

२५४ (हे) मरुतः ! वः तत् योजनं वीर्यं, सूर्यः न, दीर्घं महित्वनं ततान, यत् यामे, एताः न, अ-गृभीत-शोचिषः अन्-अश्व-दां गिरिं नि अयातन।

अर्थ- २५३ हे (धूतयः) शत्रुओं को हिलानेवाले, (शिक्वसः) सामर्थ्ययुक्त एवं (रुद्राः मरुतः !) दुश्मनों को रुलानेवाले वीर मरुतो ! (यत्) जब (अक्तून् वि) रात्रियों में (अहानि वि) दिनों में (अन्तरिक्षं वि) अन्तरिक्षमें से या (रजांसि वि अजथ) धूलिमय प्रदेशमेंसे जाते हो, उस समय (यथा नावः ईं) जैसे नौकाएँ समुन्दरमें से जाती हैं, वैसे ही तुम (अज्रान् वि) विभिन्न प्रदेशों में से तथा (दुर्गाणि वि) बीहड स्थानोंमें से भी जाते हो, तब तुम (न अह रिष्यथ) बिलकुल थक न जाओ, बिना थकावट के यह सब कुछ हो जाय ऐसा करो।

२५४ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः तत्) तुम्हारी वे (योजनं) आयोजनाएँ तथा (वीर्यं) शक्ति (सूर्यः न) सूर्यवत् (दीर्घं महित्वनं) अति विस्तृत (ततान) फैली हुई हैं. (यत्) क्योंकि तुम (यामे) शत्रु पर किये जानेवाले आक्रमण के समय (एताः न) कृष्णसारों के समान वेगवान बनकर (अ-गृभीत-शोचिषः) पकडने में असंभव प्रभाव से युक्त हो और (अन्-अश्व-दां) जहाँ पर घोडे पहुँच नहीं सकते, ऐसे (गिरिं) पर्वतपर भी (नि अयातन) हमले चढाते हो।

भावार्थ- २५३ जो बलिष्ठ वीर होते हैं, वे रात को, दिन में, अन्तरिक्ष में से या रेगिस्तानमें से चले जाते हैं। वे समतल भूमि पर से या बीहड पहाडी जगह में से बराबर आगे बढते ही जाते हैं, पर कभी थक नहीं जाते। (इस भाँति शत्रुदल पर लगातार हमले करके वे विजयी बन जाते हैं।)

२५४ वीरों की बनाई हुई युद्धकी आयोजनाएँ तथा उनकी संगठनशक्ति सचमुच बडी अनूठी है। दुश्मनों पर धावा करते वक्त वे जैसे समतल भूमि पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार वे शत्रु के दुर्ग पर भी चढाई करनेमें हिचकिचाते नहीं।

टिप्पणी- [२५३] (१) शिक्वस् = (शक् शक्तौ) कुशल, बुद्धिमान, सामर्थ्ययुक्त। शिक्व = कुशल, बुद्धिमान, समर्थ। (२) अज्र = खेत, समतल भूमि।

[२५४] (१) योजनं = जोडनेवाला, इकट्ठा होनेवाला, व्यवस्था, प्रयत्न, आयोजना। (२) अन्-अश्व-दा (गिरिः) जहाँ पर घोडे पग नहीं धर देते, ऐसा स्थान, पहाडी गढ, दुर्गम पर्वत। (३) गिरिः = पर्वत, पार्वतीय दुर्ग, वाणी।

(२५५) अभ्राजि । शर्धः । मरुतः । यत् । अर्णसम् । मोषथ । वृक्षम् । कपनाऽइव । वेधसः । अध । स्म । नः । अरमतिम् । सऽजोषसः । चक्षुःऽइव । यन्तम् । अनु । नेषथ । सुऽगम् ॥ ६ ॥

(२५६) न । सः । जीयते । मरुतः । न । हन्यते । न । स्रेधति । न । व्यथते । न । रिष्यति । न । अस्य । रायः । उप । दस्यन्ति । न । ऊतयः । ऋषिम् । वा । यम् । राजानम् । वा । सुसूदथ ॥ ७ ॥

अन्वयः— २५५ (हे) वेधसः मरुतः ! शर्धः अभ्राजि, यत् कपनाइव अर्णसं वृक्षं मोषथ, अध स्म (हे) स-जोषसः ! चक्षुःइव यन्तं सु-गं अ-रमतिं नः अनु नेषथ ।

२५६ (हे) मरुतः ! यं ऋषिं वा राजानं वा सुसूदथ सः न जीयते, न हन्यते, न स्रेधति, न व्यथते, न रिष्यति, अस्य रायः न उप दस्यन्ति, ऊतयः न ।

अर्थ— २५५ हे (वेधसः) कर्तृत्ववान (मरुतः !) वीर मरुतो ! तुम्हारा (शर्धः) बल (अभ्राजि) द्योतमान हो चुका है, (यत् कपनाइव) क्योंकि प्रबल आँधी के समान (अर्णसं वृक्षं) सागवानी पेडों को भी तुम (मोषथ) तोडमरोड देते हो । (अध स्म) और हे (स-जोषसः !) हर्षित मनवाले वीरो ! (चक्षुःइव) आँख जैसे (यन्तं) जानेवाले को (सु-गं) अच्छा मार्ग दर्शाती है, वैसे ही (अ-रमतिं नः) बिना आराम लिए कार्य करनेवाले हमें (अनु नेषथ) अनुकूल ढंगसे सीधी राहपर से ले चलो ।

२५६ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (यं ऋषिं वा) जिस ऋषि को या (राजानं वा) जिस राजा को तुम अच्छे कार्य में (सुसूदथ) प्रेरित करते हो, (सः न जीयते) वह विजित नहीं बनता है, (न हन्यते) उसकी हत्या नहीं होती है, (न स्रेधति) नष्ट नहीं होता है, (न व्यथते) दुःखी नहीं बनता है और (न रिष्यति) क्षीण भी नहीं होता है । (अस्य रायः) इसके धन (न उप दस्यन्ति) नष्ट नहीं होते हैं तथा (ऊतयः) इनकी संरक्षक शक्तियाँ भी नहीं घटती ।

भावार्थ- २५५ कर्तृत्वशाली वीरों का तेज चमकता ही रहता है । जिस प्रकार प्रचंड आँधी बडे पेडों को जडमूल से उखाड फेंक देती है, वैसे ही ये वीर शत्रुओं को हिलाकर गिरा देते हैं । नेत्र जैसे यात्री को सरल सडक पर से ले चलता है, ठीक उसी प्रकार ये वीर हम जैसे प्रबल पुरुषार्थी लोगों को सीधी राह से प्रगति की ओर ले चलें ।

२५६ जिसे वीरों की सहायता मिलती है, उसकी प्रगति सब प्रकार से होती है ।

टिप्पणी- [२५५] (१) अर्णस् = गतिमान, चंचल, जिसमें खलबली मची हुई हो ऐसा प्रवाह, जल, सागवान, समुद्र । (२) अ-रमति = आराम न लेनेवाला, चारों ओर जानेवाला, आज्ञाधारक, रममाण न होनेवाला । (३) मुष् = (मुष् खण्डने मुष्यति, मोषति) क्षति करना, वध करना, तोडना मरोडना । (४) कपना = कंपन, हिलानेवाला, झंझावात, शक्ति, कृमि । (५) वेधस् = (वि-धा) = कर्ता, कर्तृत्ववान, विधाता ।

[२५६] (१) सूद् = प्रेरणा देना, पकाना, फेंकना, उँडेलना, पीडा देना, वध करना । (२) रिष् = (हिंस्) क्षीण होना ।

(२५७) नियुत्वन्तः । ग्रामऽजितः । यथा । नरः । अर्यमणः । न । मरुतः । कवन्धिनः । पिन्वन्ति । उत्सम् । यत् । इनासः । अस्वरन् । वि । उन्दन्ति । पृथिवीम् । मध्वः । अन्धसा ॥ ८ ॥

(२५८) प्रवत्वती । इयम् । पृथिवी । मरुत्ऽभ्यः । प्रवत्वती । द्यौः । भवति । प्रयत्ऽभ्यः । प्रवत्वतीः । पथ्याः । अन्तरिक्ष्याः । प्रवत्वन्तः । पर्वताः । जीरऽदानवः ॥९॥

अन्वयः— २५७ यथा नियुत्वन्तः ग्राम-जितः नरः कवन्धिनः मरुतः, अर्यमणः न, यत् इनासः अस्वरन् उत्सं पिन्वन्ति पृथिवीं मध्वः अन्धसा वि उन्दन्ति।

२५८ (हे) जीर-दानवः ! इयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्-वती, द्यौः प्र-यद्भ्यः प्रवत्-वती भवति अन्तरिक्ष्याः पथ्याः प्रवत्-वतीः, पर्वताः प्रवत्-वन्तः ।

अर्थ- २५७ (यथा) जैसे (नियुत्वन्तः) घोडे समीप रखनेवाले, (ग्राम-जितः) दुश्मनोंके गाँव जीतनेवाले, (नरः) नेता, (कवन्धिनः) समीप जल रखनेवाले (मरुतः) वीर मरुत् (अर्यमणः न) अर्यमाके समान (यत् इनासः) जब वेगसे जाते हैं, तब (अस्वरन्) शब्द करते हैं; (उत्सं पिन्वन्ति) जलकुण्डों को परिपूर्ण बना रखते हैं और (पृथिवीं) भूमि पर (मध्वः) मिठास भरे (अन्धसा) अन्न की (वि उन्दन्ति) विशेष समृद्धि करते हैं ।

२५८ हे (जीरदानवः !) शीघ्र विजयी बननेवाले वीरो ! (इयं पृथिवी) यह भूमि (मरुद्भ्यः) वीर मरुतों के लिए (प्रवत्-वती) सरल मार्गोंसे युक्त बन जाती है, (द्यौः) द्युलोक भी (प्र-यद्भ्यः) वेगपूर्वक जानेवाले इन वीरों के लिए (प्रवत्-वती) आसानीसे जानेयोग्य (भवति) होता है, (अन्तरिक्ष्याः पथ्याः) अन्तराल की सडकें भी उनके लिए (प्रवत्-वतीः) सुगम बनती हैं और (पर्वताः) पहाड भी (प्रवत्-वन्तः) उनके लिए सरल पथवत् बने दीख पडते हैं ।

भावार्थ- २५७ घुडसवार वीर शत्रुओं के ग्राम जीत लेते हैं, तथा वेगपूर्वक दुश्मनों पर धावा करते हैं । उस समय वे बडी भारी घोषणा करते हैं और जलकुण्ड पानी से भरकर भूमंडल पै मधुरिमामय अन्नजल की समृद्धि की यत्रतत्र विपुलता कर देते हैं ।

२५८ वीरों के लिए पृथ्वी, पर्वत, अन्तरिक्ष एवं आकाशपथ सभी सुसाध्य एवं सुगम प्रतीत होते हैं । (वीरों के लिए कोई भी जगह बीहड या दुर्गम नहीं जान पडती है ।)

टिप्पणी-- [२५७] (१) नियुत् = घोडा, पंक्ति । (२) अन्धस् = अन्न (अन्-धस्) प्राण का धारण करनेवाला अन्न । (३) कवन्धिन् = जलकुण्ड या पानी की बोतलें (Water-bottles) समीप रखनेवाले ।
[२५८] (१) प्रवत् = सुगम मार्ग, समतल राह, ऊँचाई, ढाल ।

(२५९) यत् । मरुतः । सऽभरसः । स्वःऽनरः । सूर्ये । उत्ऽइते । मदथ । दिवः । नरः ।
न । वः । अश्वाः । श्रथयन्त । अह । सिस्रतः । सद्यः । अस्य । अध्वनः । पारम् ।
अश्नुथ ॥१०॥

(२६०) अंसेषु । वः । ऋष्टयः । पत्ऽसु । खादयः । वक्षःऽसु । रुक्माः । मरुतः । रथे । शुभः ।
अग्निऽभ्राजसः । विऽद्युतः । गभस्त्योः । शिप्राः । शीर्षऽसु । विऽतताः । हिरण्ययीः ॥११॥

(२६१) तम् । नाकम् । अर्यः । अगृभीतऽशोचिषम् । रुशत् । पिप्पलम् । मरुतः । वि । धूनुथ ।
सम् । अच्यन्त । वृजना । अतित्विषन्त । यत् । स्वरन्ति । घोषम् । विऽततम् ।
ऋतऽयवः ॥१२॥

अन्वयः— २५९ (हे) मरुतः ! स-भरसः स्वर्-नरः सूर्ये उदिते मदथ, (हे) दिवः नरः ! यत् वः सिस्रतः अश्वाः न अह श्रथयन्त, सद्यः अस्य अध्वनः पारं अश्नुथ। २६० (हे) रथे शुभः मरुतः ! वः अंसेषु ऋष्टयः, पत्सु खादयः, वक्षःसु रुक्माः, गभस्त्योः अग्नि-भ्राजसः विद्युतः, शीर्षसु हिरण्ययीः वितताः शिप्राः। २६१ (हे) अर्यः मरुतः ! तं अ-गृभीत-शोचिषं नाकं रुशत् पिप्पलं वि धूनुथ, वृजना सं अच्यन्त अतित्विषन्त, यत् ऋत-यवः विततं घोषं स्वरान्ति।

अर्थ- २५९ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (स-भरसः) समान रूपसे कार्यका बोझ उठानेवाले, मानों (स्वर्-नरः) स्वर्गके नेता तुम (सूर्ये उदिते) सूर्यके उदय होनेपर (मदथ) हर्षित होते हो। हे (दिवः नरः !) तेजस्वी नेता एवं वीरो ! (यत्) जबतक (वः सिस्रतः अश्वाः) तुम्हारे दौडनेवाले घोडे (न अह श्रथयन्त) तनिक भी नहीं थक गये हैं, तभी तक (सद्यः) तुरन्तही तुम (अस्य अध्वनः पारं) इस मार्ग के अन्त (अश्नुथ) पहुँच जाओ। २६० हे (रथे शुभः मरुतः !) रथोंमें सुहानेवाले वीर मरुतो ! (वः अंसेषु) तुम्हारे कंधोंपर (ऋष्टयः) भाले विराजमान हैं, (पत्सु खादयः) पैरों में कडे, (वक्षःसु रुक्माः) उरोभागपै स्वर्णमुद्राओंके हार, (गभस्त्योः) भुजाओं पर (अग्नि-भ्राजसः विद्युतः) अग्निवत् चमकीले वज्र और (शीर्षसु) माथे पर (हिरण्ययीः वितताः शिप्राः) सुवर्णके भव्य शिरस्त्राण रखे हुए हैं। २६१ हे (अर्यः मरुतः !) पूजनीय वीर मरुतो ! (तं अ-गृभीत-शोचिषं) उस अप्रतिहत तेजस्वी (नाकं) आकाशमेंसे (रुशत्) तेजस्वी (पिप्पलं) जलको (वि धूनुथ) विशेष हिलाओ, वर्षा करो। उसके लिए तुम (वृजना) अपने बलों का (सं अच्यन्त) संगठन करके अपने (अतित्विषन्त) तेज बढाओ; (यत्) क्योंकि (ऋत-यवः) पानी चाहनेवाले लोग (विततं) विस्तृत (घोषं स्वरन्ति) घोषणा करके कहते हैं कि, हमें जल चाहिए।

भावार्थ- २५९ सभी कामों का भार वीर सैनिक सम भावसे बराबर बाँट कर उठाते हैं। दिनका प्रारम्भ होने पर (अर्थात् काम शुरु करना सुगम होता है, इसलिए) ये आनन्दित होते हैं। ऐसे उत्साही वीर घोडोंके थक जानेके पहले ही अपने गन्तव्यस्थान पर पहुँच जायँ। २६० इस मंत्र में मरुतों के जिस पहनावे का बखान किया है, वह (Military uniform) ही है। २६१ अपने बल का संगठन करके तेजस्विता बढाओ। वर्षाका जल इकट्ठा करके सबको वह बाँट दो, क्योंकि जनता जल पर्याप्त मात्रा में पाने के लिए अतीव लालायित है।

टिप्पणी- [२५९] (१) भरः = भार, बोझ, आकृति, समूह, होनेवाला। स-भरस् = सम भाव से कारभार उठानेवाला। [यत् न श्रथयन्त, सद्यः अध्वनः पारं अश्नुथ = जब लौं अपने अवयव थक नहीं जाते, तभी तक मानव अपने आदर्श या ध्येयको पहुँचनेका प्रयत्न करें।] [२६०] (१) हिरण्ययीः वितताः शिप्राः = सुवर्णकी बेल पत्तियों के किनारवाले साफे। [२६१] (१) ऋत-यु = यज्ञ करने की इच्छा करनेवाला, सत्यकी-जलकी चाह रखनेवाला। (२) पिप्पल = पानी, पीपल का पेड, इन्द्रियभोग। (३) वितत = विस्तृत, संक्षिद्ध, विरल, फैला हुआ।

(२६२) युष्माऽदत्तस्य । मरुतः । विऽचेतसः । राय: । स्याम । रथ्यः । वयस्वतः ।
न । यः । युच्छति । तिष्यः । यथा । दिवः । अस्मे इति । ररन्त । मरुतः । सहस्रिणम् ॥१३॥
(२६३) यूयम् । रयिम् । मरुतः । स्पार्हऽवीरम् । यूयम् । ऋषिम् । अवथ । सामऽविप्रम् ।
यूयम् । अर्वन्तम् । भरताय । वाजम् । यूयम् । धत्थ । राजानम् । श्रुष्टिमन्तम् ॥१४॥
(२६४) तत् । वः । यामि । द्रविणम् । सद्यःऽऊतयः । येन । स्वः । न । ततनाम । नॄन् । अभि ।
इदम् । सु । मे । मरुतः । हर्यत । वचः । यस्य । तरेम । तरसा । शतम् । हिमाः ॥१५॥

अन्वयः— २६२ (हे) वि-चेतसः मरुतः! युष्मा-दत्तस्य वयस्-वतः रायः रथ्यः स्याम, (हे) मरुतः! अस्मे यः, दिवः तिष्यः यथा, न युच्छति सहस्रिणं ररन्त। २६३ (हे) मरुतः! यूयं स्पार्ह-वीरं रयिं, यूयं साम-विप्रं ऋषिं अवथ, यूयं भरताय अर्वन्तं वाजं, यूयं राजानं श्रुष्टि-मन्तं धत्थ। २६४ (हे) सद्य-ऊतयः! वः तत् द्रविणं यामि, येन नॄन् स्वः न अभि ततनाम, (हे) मरुतः! इदं मे सु-वचः हर्यत, यस्य तरसा शतं हिमाः तरेम।

अर्थ- २६२ हे (वि-चेतसः मरुतः!) विशेष ज्ञानी वीर मरुतो! (युष्मा-दत्तस्य) तुम्हारे दिये हुए (वयस्-वतः) अन्नसे युक्त होकर (रायः) ऐश्वर्य के (रथ्यः) रथ भरके लानेवाले हम (स्याम) हों। हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (अस्मे) हमें (यः) वह (दिवः तिष्यः यथा) आकाश में विद्यमान् नक्षत्र के समान (न युच्छति) न नष्ट होनेवाला (सहस्रिणं) हजारों किस्म का धन देकर (ररन्त) संतुष्ट करो।

२६३ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (यूयं) तुम (स्पार्ह-वीरं) स्पृहणीय वीरों से युक्त (रयिं) धन का संरक्षण करते हो; (यूयं साम-विप्रं) तुम शांतिप्रधान या सामगायक विद्वान (ऋषिं अवथ) ऋषि का रक्षण करते हो; (यूयं) तुम (भरताय) जनता का भरणपोषण करनेवाले के लिए (अर्वन्तं वाजं) घोडे तथा अन्न देते हो और (यूयं) तुम (राजानं) नरेश को (श्रुष्टि-मन्तं) वैभवयुक्त करके उसे (धत्थ) धारित एवं पुष्ट करते हो।

२६४ हे (सद्य-ऊतयः!) तुरन्त संरक्षण करनेवाले वीरो! (वः तत्) तुम्हारे उस (द्रविणं यामि) द्रव्य की हम इच्छा करते हैं। (येन) जिससे हम (नॄन्) सभी लोगों को (स्वः न) प्रकाश के समान (अभि ततनाम) दान दे सकें। हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (इदं मे सु-वचः) यह मेरा अच्छा वचन (हर्यत) स्वीकार कर लो; (यस्य तरसा) जिसके बलसे हम (शतं हिमाः) सौ हेमन्तऋतु, सौ वर्ष (तरेम) दुःखमें से तैरकर पार पहुँच सकें, जीवित रह सकें।

भावार्थ- २६२ सहस्रों प्रकारका धन और अन्न हमें प्राप्त हो। वह धन आकाशके नक्षत्रकी न्याईं अक्षय एवं अटल रहे।

२६३ वीर पुरुष शूरतायुक्त धन का वितरण करके ज्ञानी तत्त्वज्ञ का पोषण करके प्रजापालनतत्पर भूपाल का पालनपोषण एवं संवर्धन करते हैं।

२६४ हे संरक्षणकर्ता वीरो! हमें प्रचुर धन दो ताकि हम उसे सब लोगों में बाँट दें। मैं अपना यह वचन दे रहा हूँ। इसी भाँति करते हम सौ वर्षों तक दुःख हटाकर जीवनयात्रा बितायें।

टिप्पणी-- [२६३] (१) श्रुष्टि = सुननेवाला, सहायता, वर, वैभव, सुख।

[२६४] (१) स्वर् = स्वर्ग, जल, सूर्यकिरण, प्रकाश। (२) हर्य् (गतिकान्त्योः) = गति करना, इच्छा करना। (३) यामि (याचे) = याचना करता हूँ, चाहता हूँ। (४) स्वः न = (स्वर् न, स्वर्ण) = सूर्यप्रकाशवत्, जैसे सूर्य अपने किरणों को समान रूप से बाँट देता है वैसे। [शतं हिमाः तरेम = पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्॥ (वा० यजु० ३६।२४)]

(ऋ० ५।५५।१-१०)

(२६५) प्रऽयंज्यवः । मरुतः । भ्राजंत्ऽऋष्टयः । बृहत् । वयः । दधिरे । रुक्मऽवक्षसः ।
ईयन्ते । अश्वैः । सुऽयमेभिः । आशुऽभिः । शुभंम् । याताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥१॥

(२६६) स्वयम् । दधिध्वे । तविषीम् । यथा । विद । बृहत् । महान्तः । उर्विया । वि । राजथ ।
उत । अन्तरिक्षम् । ममिरे । वि । ओजसा । शुभंम् । याताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥२॥

अन्वयः- २६५ प्र-यज्यवः भ्राजत्-ऋष्टयः रुक्म-वक्षसः मरुतः बृहत् वयः दधिरे, सु-यमेभिः आशुभिः अश्वैः ईयन्ते, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत ।

२६६ यथा विद स्वयं तविषीं दधिध्वे, महान्तः उर्विया बृहत् वि राजथ, उत ओजसा अन्तरिक्षं वि ममिरे, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत।

अर्थ- २६५ (प्र-यज्यवः) विशेष यजनीय कर्म करनेहारे, (भ्राजत्-ऋष्टयः) तेजस्वी हथियारों से युक्त तथा (रुक्म-वक्षसः मरुतः) वक्षःस्थलपर स्वर्णहार धारण करनेहारे वीर मरुत्, (बृहत् वयः दधिरे) बडा भारी बल धारण करते हैं। (सु-यमेभिः) भली भाँति नियमित होनेवाले, (आशुभिः) वेगवान (अश्वैः) घोडों के साथ, वे (ईयन्ते) चले जाते हैं। उनके (रथाः) रथ (शुभं यातां) लोककल्याण के लिए जाते समय उन्हीं के (अनु अवृत्सत) पीछे चले जाते हैं।

२६६ (यथा) चूँकि तुम (विद) बहुत ज्ञान प्राप्त करते हो और (स्वयं तविषीं दधिध्वे) स्वयमेव विशेष बल भी धारण करते हो, तुम (महान्तः) बड हो और (उर्विया) मातृभूमि का हित करने की लालसा से (बृहत् वि राजथ) विशेष रूपसे सुशोभित होते हो। (उत) और (ओजसा) अपने बल से, (अन्तरिक्षं वि ममिरे) अन्तरिक्षको भी व्याप्त कर डालते हो, (रथाः) इनके रथ (शुभं यातां) लोककल्याण के लिए जाते समय, (अनु अवृत्सत) इन्हीं का अनुसरण करते हैं।

भावार्थ- २६५ अच्छे कर्म करनेहारे, तेजस्वी आयुध धारण करनेवाले, आभूषणों से सुशोभित वीर अपने बल को अत्यधिक रूप से बढाते हैं और चपल अश्वोंपर आरूढ होकर जनता का हित करने के लिए शत्रुदलपर धावा करना शुरू करते हैं।

२६६ वीर पुरुष ज्ञान प्राप्त करके अपना बल बढाकर मातृभूमि का यश बढाने के लिए प्रयत्न करते हैं। अपने इन अदम्य अध्यवसायों के फलस्वरूप वे अत्यन्त सुशोभित दीख पडते हैं और अपनी ऊँची उडानों से समूचा अन्तरिक्ष भी व्याप्त कर डालते हैं।

टिप्पणी- [२६५] (१) वयस्= अन्न, बल, सामर्थ्य, तारुण्य ।

[२६६] (१) उर्व्= (हिंसायाम्) वध करना। (उर्वी)= भूमि, मातृभूमि। (उर्विया) = मातृभूमि के बारे में शुभ बुद्धि, पृथ्वीविषयक विस्तृत भावना। (२) मा (माने) = गिनना, अन्तर्भूत हो जाना, व्याप्त होना।

(२६७) साकम् । जाताः । सुऽभ्वः । साकम् । उक्षिताः ।
श्रिये । चित् । आ । प्रऽतरम् । ववृधुः । नरः ।
विऽरोकिणः । सूर्यस्यऽइव । रश्मयः ।
शुभम् । याताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥३॥

(२६८) आऽभूषेण्यम् । वः । मरुतः । महिऽत्वनम् ।
दिदृक्षेण्यम् । सूर्यस्यऽइव । चक्षणम् ।
उतो इति । अस्मान् । अमृतऽत्वे । दधातन ।
शुभम् । याताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥ ४ ॥

अन्वयः— २६७ साकं जाताः सु-भ्वः साकं उक्षिताः नरः श्रिये चित् प्र-तरं आ ववृधुः, सूर्यस्यइव रश्मयः वि-रोकिणः, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत ।

२६८ (हे) मरुतः ! वः महित्वनं आ-भूषेण्यं सूर्यस्यइव चक्षणं दिदृक्षेण्यं, उत् अस्मान् अ-मृतत्वे दधातन, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत ।

अर्थ- २६७ जो (साकं जाताः) एक ही समय प्रकट होनेवाले, (सु-भ्वः) अच्छी प्रकार उत्पन्न हुए, (साकं उक्षिता) संघ करके बलसंपन्न होनेवाले (नरः) नेता वे वीर, (श्रिये चित्) वैभव पाने के लिए हा (प्र-तरं) अधिकाधिक (आ ववृधुः) बढते हैं, वे (सूर्यस्यइव रश्मयः) सूर्यकिरणों के समान (वि-रोकिणः) विशेष तेजस्वी हैं । (रथाः शुभं ... ...) [मंत्र २६५ वाँ देखिए ।]

२६८ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः महित्वनं) तुम्हारा बडप्पन (आ-भूषेण्यं) सभी प्रकार से शोभायमान है और वह (सूर्यस्यइव चक्षणं) सूर्य के दृश्य के समान (दिदृक्षेण्यं) दर्शनीय है । (उत) इसीलिए तुम (अस्मान् अ-मृतत्वे दधातन) हमें अमरपन को पहुँचाओ । (रथाः शुभं यातां०) [मंत्र २६५ वाँ देखिए ।]

भावार्थ- २६७ ये वीर शत्रुदलपर आक्रमण करते समय एक ही समय प्रकट होते हैं, अपना उत्तम जीवन बिताते हैं, संघ बनाकर अपने बल की वृद्धि करते हैं और सदैव यश के लिए ही सचेष्ट रहा करते हैं । ये सूर्यकिरणवत् तेजस्वी बन प्रकाशमान होते हैं ।

२६८ हे वीरो ! तुम्हारा बडप्पन सचमुच वर्णनीय है । तुम सूर्यवत् तेजस्वी हो, इसीलिए हमें अ-मृतोंमें स्थान दो ।

टिप्पणी- [२६७] (१) वि-रोकिन् = (रोकः = तेजस्विता) = विशेष तेजस्वी । (२) सु-भ्वः = (सु+भू) अच्छी तरह उत्पन्न. सत्पथपर से चलनेवाला । सुभ्वन् = चमकीला, तेजस्वी । (३) उक्ष् = सींचना, बलवान होना । (४) जातः = प्रकट, पैदा हुआ ।

[२६८] (१) चक्षणं = रूप, तथा दर्शन, दृश्य ।

(२६९) उत् । ईरयथ । मरुतः । समुद्रतः । यूयम् । वृष्टिम् । वर्षयथ । पुरीषिणः ।
न । वः । दस्राः । उप । दस्यन्ति । धेनवः । शुभम् । यताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥५॥
(२७०) यत् । अश्वान् । धूःऽसु । पृषतीः । अयुग्ध्वम् । हिरण्ययान् । प्रति । अत्कान् । अमुग्ध्वम् ।
विश्वाः । इत् । स्पृधः । मरुतः । वि । अस्यथ । शुभम् । यताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥६॥
(२७१) न । पर्वताः । न । नद्यः । वरन्त । वः । यत्र । अचिध्वम् । मरुतः । गच्छथ । इत् ।
उँ इति । तत् ।
उत । द्यावापृथिवी इति । याथन । परि । शुभम् । यताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥७॥

अन्वयः— २६९ (हे) पुरीषिणः मरुतः ! यूयं समुद्रतः उत् ईरयथ, वृष्टिं वर्षयथ, (हे) दस्राः ! वः धेनवः न उप दस्यन्ति, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत।

२७० (हे) मरुतः ! यत् पृषतीः अश्वान् धूर्षु अयुग्ध्वं, हिरण्ययान् अत्कान् प्रति अमुग्ध्वं, विश्वाः इत् स्पृधः वि अस्यथ, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत।

२७१ (हे) मरुतः ! वः पर्वताः न वरन्त, नद्यः न, यत्र अचिध्वं तत् गच्छथ इत् उ, उत द्यावा-पृथिवी परि याथन, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत।

अर्थ- २६९ हे (पुरीषिणः मरुतः !) जलसे युक्त वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (समुद्रतः) समुद्र के जल को (उत् ईरयथ) ऊपर प्रेरणा देते हो और (वृष्टिं वर्षयथ) वर्षा का प्रारम्भ करते हो। हे (दस्राः !) शत्रुको विनष्ट करनेवाले वीरो ! (वः धेनवः) तुम्हारी गौएं (न उप दस्यन्ति) क्षीण नहीं होती है। (रथाः शुभं०) [२६५ वाँ मंत्र देखिए।]

२७० हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (यत् पृषतीः अश्वान्) जब धब्बेवाले घोडों को तुम, (धूर्षु) रथों के अग्रभाग में जोड देते हो और (हिरण्ययान् अत्कान्) स्वर्णमय कवच (प्रति अमुग्ध्वं) हर कोई पहनते हो, तब (विश्वाः इत्) सभी (स्पृधः) चढाऊपरी करनेवाले दुश्मनोंको तुम (वि अस्यथ) विभिन्न प्रकारों से तितरबितर कर देते हो। (रथाः शुभं०) [मंत्र २६५ वाँ देखिए।]

२७१ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः) तुम्हारे मार्ग में (पर्वताः) पहाड (न वरन्त) रुकावट न डालें, (नद्यः न) नदियाँ भी रोडे न अटकायँ। (यत्र) जिधर (अचिध्वं) जाने की इच्छा हो, (तत्) उधर (गच्छथ इत् उ) जाओ, (उत) और (द्यावा-पृथिवी) भूमंडल एवं द्युलोक में (परि याथन) चारों ओर घूमो। (रथाः शुभं ... ...) [मंत्र २६५ वाँ देखिए।]

भावार्थ- २६९ समुद्र में विद्यमान जल को ये मरुत् ऊपर आकाश में उठा ले जाते हैं और वहाँ से फिर वर्षा के द्वारा उसे भूमिपर पहुँचा देते हैं। इस वर्षा के कारण गौओं का पोषण होता है। २७० वीर सुन्दर दिखाई देनेवाले अश्वों को रथ में जोडकर कवचधारी बन बैठते हैं और सारे शत्रुओं को मार भगा देते हैं। २७१ पर्वत तथा नदियोंके कारण वीरों के पथ में कोई रुकावट खडी न होने पाय। विजयी बनने के लिए जिधर भी जाना उन्हें पसंद हो, उधर बिना किसी विघ्न के वे चले जायँ और सर्वत्र विजय का झंडा फहरायँ।

टिप्पणी- [२६९] (१) दस्रः = जंगली, उग्र। (दस्= फेंकना, नाश करना, जीतना, प्रकाशमान होना।) फेंकनेवाला, शत्रुविनाशक, विजयशील, प्रकाशमान। (२) पुरीष = जल (निघन्टु), मल, विष्ठा। (पुरि-इष) नगरी में जो इष्ट है वह; शरीर में जो इष्ट है वह।

[२७०] (१) अत्कः = (अत् सातत्यगमने) = यात्री, अवयव, जल, विद्युत्, वस्त्र, कवच। (२) प्रति-मुच् = पहनना, शरीरपर धारण करना।

(२७२) यत् । पूर्व्यम् । मरुतः । यत् । च । नूतनम् । यत् । उद्यते । वसवः । यत् । च । शस्यते ।
विश्वस्य । तस्य । भवथ । नवेदसः । शुभम् । याताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥८॥
(२७३) मृळत । नः । मरुतः । मा । वधिष्टन । अस्मभ्यम् । शर्म । बहुलम् । वि । यन्तन ।
अधि । स्तोत्रस्य । सख्यस्य । गातन । शुभम् । याताम् । अनु । रथाः । अवृत्सत ॥९॥
(२७४) यूयम् । अस्मान् । नयत । वस्यः । अच्छ । निः । अंहतिऽभ्यः । मरुतः । गृणानाः ।
जुषध्वम् । नः । हव्यऽदातिम् । यजत्राः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥१०॥

अन्वयः— २७२ (हे) वसवः मरुतः ! यत् पूर्व्यं, यत् च नूतनं, यत् उद्यते, यत् च शस्यते, तस्य विश्वस्य नवेदसः भवथ, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत।

२७३ (हे) मरुतः ! नः मृळत, मा वधिष्टन, अस्मभ्यं बहुलं शर्म वि यन्तन, स्तोत्रस्य सख्यस्य अधि गातन, रथाः शुभं यातां अनु अवृत्सत।

२७४ (हे) गृणानाः मरुतः ! यूयं अस्मान् अंहतिभ्यः निः वस्यः अच्छ नयत, (हे) यजत्राः ! नः हव्य-दातिं जुषध्वं, वयं रयीणां पतयः स्याम।

अर्थ- २७२ हे (वसवः मरुतः !) लोगों को बसानेहारे वीर मरुतो ! (यत् पूर्व्यं) जो पुरातन, पुराना है (यत् च नूतनं) और जो नया है (यत् उद्यते) जो उत्कृष्ट है और। यत् च शस्यते) जो प्रशंसित होता है, (तस्य विश्वस्य) उस सभीके तुम (नवेदसः भवथ) जाननेवाले होओ। (रथाः शुभं०) [मंत्र २६५ वाँ देखिए।]

२७३ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (नः मृळत) हमें सुखी बनाओ; (मा वधिष्टन) हमें न मार डालो; (अस्मभ्यं) हमें (बहुलं शर्म वि यन्तन) बहुत सारा सुख दे दो और हमारी (स्तोत्रस्य सख्यस्य) स्तुतियोग्य मित्रता को तुम (अधि गातन) जान लो। (रथाः शुभं०) [मंत्र २६५ वाँ देखिए।]

२७४ हे (गृणानाः मरुतः !) प्रशंसनीय वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (अस्मान् अंहतिभ्यः निः) हमें दुर्दशासे दूर हटाकर (वस्यः अच्छ) बसने के लिए योग्य जगह की ओर (नयत) ले चलो। हे (यजत्राः !) यज्ञ करनेवाले वीरो ! (नः हव्य-दातिं) हमारे दिये हुए हविष्यान्नका (जुषध्वं) सेवन करो। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) विभिन्न प्रकारके धनों के स्वामी या अधिपति बन जायँ, ऐसा करो।

भावार्थ- २७२ पुराना हो या नया, जो कुछ भी ऊँचा या वर्णनीय ध्येय है, उसे वीर जान लें और उसके लिए सचेष्ट रहें।

२७३ हमें सुख, आनन्द एवं कल्याण प्राप्त हो, ऐसा करो। जिस से हमारी क्षति हो जाए, ऐसा कुछ भी न करो और हम से मित्रतापूर्ण व्यवहार रखो।

२७४ हमें वीर पुरुष पापों से बचाएँ और सुखपूर्वक जहाँ निवास कर सकें, ऐसे स्थान तक हमें पहुँचा दें। हम जो कुछ भी हविष्यान्न प्रदान करते हैं, उसे स्वीकार कर हमें भाँति भाँति के धन मिले, ऐसा करना उन्हें उचित है।

टिप्पणी- [२७२] (१) यत् उद्यते = (उत्-यते = ऊर्ध्वं प्राप्यते) (सायणभाष्य) ऊँचा प्राप्तव्य है। (२) नवेदसः = नवेदस् = "नभ्राण्नपान्नवेदा०"- पा० सू० ६-३-७५ द्वारा इस पद की सिद्धि की है, पर अर्थ निषेधात्मक दीख पडता है। सायणाचार्यने 'जाननेवाला' ऐसा अर्थ किया है। ऋ. १-१६५-१३ में 'नवेदाः' पद है और वहाँपर भी (सा० भा० में) वही अर्थ किया है। 'अनुत्तम' (सबसे उत्तम) पदके समान ही 'नवेदाः' पदका अर्थ बहुव्रीहि समास से 'अधिक ज्ञानी' यों करना चाहिए।

[२७४] (१) अंहतिः = दान, पाप, चिंता, कष्ट, दुःख, आपत्ति, बीमारी।

(ऋ० ५।५६ । १-९)

(२७५) अग्नें । शर्धन्तम् । आ । गणम् । पिष्टम् । रुक्मेभिः । अञ्जिभिः ।
विशः । अद्य । मरुताम् । अव । ह्वये । दिवः । चित् । रोचनात् । अधि ॥१॥
(२७६) यथा । चित् । मन्यसे । हृदा । तत् । इत् । मे । जग्मुः । आऽशसः ।
ये । ते । नेदिष्ठम् । हवनानि । आऽगमन् । तान् । वर्ध । भीमऽसंदृशः ॥२॥
(२७७) मीळ्हुष्मतीऽइव । पृथिवी । पराऽहता । मदन्ती । एति । अस्मत् । आ ।
ऋक्षः । न । वः । मरुतः । शिमीऽवान् । अमः । दुध्रः । गौःऽइव । भीमऽयुः ॥३॥

अन्वयः— २७५ (हे) अग्ने ! अद्य शर्धन्तं रुक्मेभिः आञ्जिभिः पिष्टं गणं मरुतां विशः रोचनात् दिवः अधि अव आ ह्वये ।

२७६ हृदा यथा चित् मन्यसे तत् इत् आ-शसः मे जग्मुः, ये ते हवनानि नेदिष्ठं आगमन् तान् भीम-संदृशः वर्ध ।

२७७ मीळ्हुष्मतीइव पृथिवी पर-अ-हता मदन्ती अस्मत् आ एति, (हे) मरुतः ! वः अमः ऋक्षः न शिमी-वान् दु-ध्रः गौःइव भीम-युः ।

अर्थ- २७५ हे (अग्ने !) अग्ने ! (अद्य) आज दिन (शर्धन्तं) शत्रुविनाशक, (रुक्मेभिः अञ्जिभिः) स्वर्ण-हारों एवं वीरों के आभूषणों से (पिष्टं) अलंकृत (गणं) वीर मरुतों के समुदाय को तथा (मरुतां विशः) मरुतों के प्रजाजनों को (रोचनात् दिवः अधि) प्रकाशमय द्युलोक से (अव आ ह्वये) मैं नीचे बुलाता हूँ।

२७६ हे अग्ने ! तू उन्हें (हृदा यथा चित्) अंतःकरणपूर्वक जैसे पूज्य (मन्यसे) समझता है, (तत् इत्) उसी प्रकार वे (आ-शसः) चतुर्दिक् शत्रुदल की धज्जियाँ उडानेवाले वीर (मे जग्मुः) मेरे निकट आ चुके हैं. (ये) जो (ते) तुम्हारे (हवनानि) हवनों के (नेदिष्ठं) समीप (आगमन्) आ गये, (तान् भीम-संदृशः) उन उग्र-स्वरूपी वीरों को (वर्ध) तू बढा दे।

२७७ (मीळ्हुष्मतीइव) उदार तथा (पर-अ-हता) शत्रुसे पराभूत न हुई और इसीलिए (मदन्ती) हर्षित हुई वीरसेना (अस्मत् आ एति) हमारे निकट आ रही है। हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः अमः) तुम्हारा बल (ऋक्षः न) सप्तर्षियों के समान (शिमी-वान्) कार्यक्षम तथा (दु-ध्रः) शत्रुओं से घिरे जाने में अशक्य है और (गौःइव) बैल के समान वह (भीम-युः) भयंकर ढंगसे सामर्थ्यवान है।

भावार्थ- २७५ जनता के हित के लिए हम अपने बीच वीरों को बुलाते हैं। वे वीर सैनिक इधर आ जाएँ और अच्छी रक्षा के द्वारा सब को सुखी बना दे।

२७६ पूज्य वीरों को अन्न आदि देकर उनका यथावत् आदरसत्कार करें, तथा जिससे उनकी वृद्धि हो, ऐसे कार्य सम्पन्न करने चाहिए।

२७७ शिकस्त न खायी हुई, उमंग भरी वीर सेना हमें सहायता पहुँचाने के लिए आ रही है। वह प्रबल है इसीलिए शत्रु उसे घेर नहीं सकते हैं और इसे देख लेने से दर्शकों के मन में तनिक भय का संचार होता है।

टिप्पणी- [२७५] (१) पिष्ट = (पिश्-तेजस्वी करना, व्यवस्थित करना, अलंकृत करना, आकार देना) विभूषित, सजाया हुआ। [२७६] (१) आ-शस् = (शस्-हिंसायाम्) शत्रुका वध, कत्तल। [२७७] (१) मीळ्हुष्मती = (मीढ्वस्-मती) = उदार, दातृत्वयुक्त, स्नेहयुक्त। (२) शिमी-वान् = (शिमी = प्रयत्न, उद्यम, कर्म) प्रबल, प्रयत्नशील, समर्थ। (३) ऋक्षः = विनाशक, घातक, सप्तर्षि, सर्वोत्तम, अग्नि (सायण)।

(२७८) नि । ये । रिणन्ति । ओजसा । वृथा । गावः । न । दुःऽधुरः ।
अश्मानम् । चित् । स्वर्यम् । पर्वतम् । गिरिम् । प्र । च्यवयन्ति । यामऽभिः ॥४॥
(२७९) उत् । तिष्ठ । नूनम् । एषाम् । स्तोमैः । समऽउक्षितानाम् ।
मरुताम् । पुरुऽतमम् । अपूर्व्यम् । गवाम् । सर्गम्ऽइव । ह्वये ॥५॥
(२८०) युङ्ग्ध्वम् । हि । अरुषीः । रथे । युङ्ग्ध्वम् । रथेषु । रोहितः ।
युङ्ग्ध्वम् । हरी इति । अजिरा । धुरि । वोळ्हवे । वहिष्ठा । धुरि । वोळ्हवे ॥६॥

अन्वयः— २७८ दुर्-धुरः गावः न ये ओजसा वृथा नि रिणन्ति यामभिः अश्मानं गिरिं स्वर्-यं पर्वतं चित् प्र च्यवयन्ति ।

२७९ उत् तिष्ठ, नूनं स्तोमैः सम्-उक्षितानां एषां मरुतां पुरु-तमं अ-पूर्व्यं गवां सर्गंइव ह्वये ।

२८० रथे हि अरुषीः युङ्ग्ध्वं, रथेषु रोहितः युङ्ग्ध्वं, अजिरा वहिष्ठा हरी वोळ्हवे धुरि वोळ्हवे धुरि युङ्ग्ध्वं ।

अर्थ- २७८ (दुर्-धुरः गावः न) जीर्ण धुराका नाश जैसे बैल करते हैं, उसी प्रकार (ये) जो वीर (ओजसा) अपनी सामर्थ्य से शत्रुओं का (वृथा) आसानी से विनाश करते हैं, वे (यामभिः) हमलों से (अश्मानं गिरिं) पथरीले पहाडों को तथा (स्वर्-यं पर्वतं चित्) आकाशचुम्बी पहाडों को भी (प्र च्यवयन्ति) स्थानभ्रष्ट कर देते हैं।

२७९ (उत् तिष्ठ) उठो, (नूनं) सचमुच (स्तोमैः) स्तोत्रों से (सम्-उक्षितानां) इकट्ठे बढे हुए (एषां मरुतां) इन वीर मरुतों के (पुरु-तमं) बहुतही बडे (अ-पूर्व्यं) एवं अपूर्व गण की, (गवां सर्ग-इव) बैलों के समूह की जैसे प्रार्थना की जाती है, वैसे ही (ह्वये) मैं प्रार्थना करता हूँ।

२८० तुम अपने (रथे हि) रथ में (अरुषीः) लालिमामय हरिणियाँ (युङ्ग्ध्वं) जोड दो और अपने (रथेषु) रथ में (रोहितः) एक लालवर्णवाला हरिण (युङ्ग्ध्वं) लगा दो, या (अजिरा) वेगवान् (वहिष्ठा हरी) ढोने की क्षमता रखनेवाले दो घोडों को रथ (वोळ्हवे धुरि वोळ्हवे धुरि) खींचने के लिए धुरा में (युङ्ग्ध्वं) जोड दो।

भावार्थ- २७८ अपनी शक्ति के सहारे वीर शत्रुओं का वध करते हैं और पर्वतश्रेणी को भी जगह से हिला देते हैं।

२७९ मैं वीरों की सराहना करता हूँ। (वीरों के काव्य का गायन करता हूँ।)

२८० रथ खींचने के लिए घोडे, हिरनियाँ या हरिण रखते हैं।

टिप्पणी- [२७८] (१) स्वर्-यः = स्वर्ग तक पहुँचा हुआ, आकाश को छूनेवाला, । (२) दुर्-धुर् = बुरी धुरा, जीर्ण धुरा।

[२७९] (१) सम्-उक्षित = संवर्धित, (सम्) एकतापूर्वक (उक्षित) बलवान बनाया हुआ।

[२८०] (१) अरुषी = (अरुष = लालिमामय) रक्तिम वर्णवाली (घोडी-हिरनी) अ-रुषी = (रुष् = क्रोध करना) = शांत प्रकृति की (हरिणी)। (२) अजिर = (अज् गतौ) वेगवान्। (रथों में हरिणी या कृष्ण-सार जोडने का उल्लेख मंत्र ७३ तथा ७४ की टिप्पणी में देखिए।)

(२८१) उत । स्यः । वाजी । अरुषः । तुविऽस्वनिः । इह । स्म । धायि । दर्शतः ।
मा । वः । यामेषु । मरुतः । चिरम् । करत् । प्र । तम् । रथेषु । चोदत ॥७॥
(२८२) रथम् । नु । मारुतम् । वयम् । श्रवस्युम् । आ । हुवामहे ।
आ । यस्मिन् । तस्थौ । सुऽरणानि । बिभ्रती । सचा । मरुत्ऽसु । रोदसी ॥८॥
(२८३) तम् । वः । शर्धम् । रथेऽशुभम् । त्वेषम् । पनस्युम् । आ । हुवे ।
यस्मिन् । सुऽजाता । सुऽभगा । महीयते । सचा । मरुत्ऽसु । मीळ्हुषी ॥९॥

अन्वयः— २८१ उत स्यः अरुषः तुवि-स्वनिः दर्शतः वाजी इह धायि स्म, (हे) मरुतः! वः यामेषु चिरं मा करत्, तं रथेषु प्र चोदत ।

२८२ यस्मिन् सु-रणानि बिभ्रती रोदसी मरुत्सु सचा आ तस्थौ (तं) श्रवस्युं मारुतं रथं वयं आ हुवामहे ।

२८३ यस्मिन् सु-जाता सु-भगा मीळ्हुषी मरुत्सु सचा महीयते तं वः रथे-शुभं त्वेषं पनस्युं शर्धं आ हुवे ।

अर्थ- २८१ (उत) सचमुच (स्यः) वह (अरुषः) रक्तिम आभासे युक्त (तुवि-स्वनिः) बडे जोरसे हिनहिनानेवाला (दर्शतः) देखनेयोग्य (वाजी) घोडा (इह) इस रथकी धुरा में (धायि स्म) जोडा गया है । हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (वः यामेषु) तुम्हारी चढाइयों में वह (चिरं मा करत्) विलम्ब न करेगा, (तं) उसे (रथेषु प्र चोदत) रथों में बैठकर भली भाँति हाँक दो ।

२८२ (यस्मिन्) जिसमें (सु-रणानि) अच्छे रमणीय वस्तुओंको (बिभ्रती) धारण करनेवाली (रोदसी) द्यावापृथिवी (मरुत्सु सचा) वीर मरुतों के साथ (आ तस्थौ) बैठी हुई हैं, उस (श्रवस्-युं) कीर्तिको समीप करनेवाले (मारुतं रथं) वीर मरुतों के रथका (वयं आ हुवामहे) वर्णन हम सभी तरह से कर रहे हैं ।

२८३ (यस्मिन्) जिस में (सु-जाता) भली भाँति उत्पन्न, (सु-भगा) अच्छे भाग्यसे युक्त एवं (मीळ्हुषी) उदार द्यावापृथिवी (मरुत्सु सचा) वीर मरुतों के साथ (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होती है, (तं) उस (वः) तुम्हारे (रथे-शुभं) रथ में सुहानेवाले (त्वेषं) तेजस्वी और (पनस्युं) सराहनीय (शर्धं) बलकी (आ हुवे) ठीक प्रकार में प्रार्थना करता हूँ ।

भावार्थ- २८१ रथको शीघ्रही अश्वयुक्त करके शीघ्र चलनेके लिए उन्हें प्रेरणा करो और बहुत जल्द दुश्मनों पर धावा करो ।

२८२ द्यावापृथिवी अच्छे रमणीय वस्तुओं को धारण करके जिनके आधार से टिकी है, उन मरुतों के विजयी रथ का काव्य हम रचते हैं तथा गायन भी करते हैं ।

२८३ जिसमें समूचा भाग्य समाया हुआ है, ऐसे तेजस्वी मरुतोंके दिव्य बलकी सराहना मैं करता हूँ ।

टिप्पणी- [२८१] (१) तं रथेषु प्र चोदत- यहाँ पर ऐसा दीख पडता है कि, एक वचन के लिए 'रथेषु' बहुवचन का प्रयोग किया गया है अथवा हरएक मरुत् के रथ की इसी भाँति योजना होने के कारण यह बहुवचन का प्रयोग बिलकुल सार्थ है, ऐसा कहा जा सकता है ।

[२८२] (१) रणः-णं = युद्ध, समरभूमि, आनंद, रमणीयता । (२) श्रवस्-युः = कीर्ति से संयुक्त होनेवाला, अन्न से जुडानेवाला ।

[२८३] (१) सु-जात = अच्छी तरह बना हुआ, कुलीन, उत्तम ढंगसे प्रकट हुआ या निष्पन्न । (२) सु-भग = वैभवशाली, भाग्ययुक्त, अच्छे भाग्यवाला ।

(ऋ० ५।५७।१-८)

(२८४) आ । रुद्रासः । इन्द्रंऽवन्तः । सऽजोषसः । हिरण्यऽरथाः । सुवितार्य । गन्तन ।
इयम् । वः । अस्मत् । प्रति । हर्यते । मतिः । तृष्णऽजे । न । दिवः । उत्साः । उदन्यवे ॥१॥
(२८५) वाशीऽमन्तः । ऋष्टिऽमन्तः । मनीषिणः । सुऽधन्वानः । इषुऽमन्तः । निषङ्गिणः ।
सुऽअश्वाः । स्थ । सुऽरथाः । पृश्निऽमातरः । सुऽआयुधाः । मरुतः । याथन । शुभम् ॥२॥
(२८६) धूनुथ । द्याम् । पर्वतान् । दाशुषे । वसु । नि । वः । वना । जिहते । यामनः । भिया ।
कोपयथ । पृथिवीम् । पृश्निऽमातरः । शुभे । यत् । उग्राः । पृषतीः । अयुग्ध्वम् ॥३॥

अन्वयः— २८४ (हे) इन्द्र-वन्तः स-जोषसः हिरण्य-रथाः रुद्रासः ! सुविताय आ गन्तन, इयं अस्मत् मतिः वः प्रति हर्यते, (हे) दिवः ! तृष्णजे उदन्यवे उत्साः न ।

२८५ (हे) पृश्नि मातरः मरुतः ! वाशी-मन्तः ऋष्टि-मन्तः मनीषिणः सु-धन्वानः इषुं-मन्तः निषङ्गिणः सु-अश्वाः सु-रथाः सु-आयुधाः स्थ शुभं याथन ।

२८६ दाशुषे वसु द्यां पर्वतान् धूनुथ, वः यामनः भिया वना नि जिहते, (हे) पृश्नि-मातरः ! शुभे यत् उग्राः पृषतीः अयुग्ध्वं पृथिवीं कोपयथ।

अर्थ- २८४ हे (इन्द्र-वन्तः) इन्द्रके साथ रहनेवाले, (स-जोषसः) प्रेम करनेहारे, (हिरण्य-रथाः) सुवर्ण के बनाये रथ रखनेवाले तथा (रुद्रासः !) शत्रु को रुलानेवाले वीरो ! (सुविताय) हमारे वैभव को बढाने के लिए (आ गन्तन) हमारे समीप आओ। (इयं अस्मत् मतिः) यह हमारी स्तुति (वः प्रति हर्यते) तुममें से हरेक की पूजा करती है। हे (दिवः !) तेजस्वी वीरो ! जिस प्रकार (तृष्णजे) प्यासे और (उदन्-यवे) जलको चाहनेवालेके लिए (उत्साः न) जलकुंड रखे जाते हैं, उसी प्रकार हमारे लिए तुम हो।

२८५ हे (पृश्नि-मातरः मरुतः !) भूमि को माता माननेवाले वीर मरुतो ! तुम (वाशी-मन्तः) कुठारसे युक्त, (ऋष्टि-मन्तः) भाले धारण करनेवाले, (मनीषिणः) अच्छे ज्ञानी, (सु-धन्वानः) सुन्दर धनुष्य साथ रखनेहारे, (इषु-मन्तः) बाण रखनेवाले, (निषङ्गिणः) तूणीरवाले, (सु-अश्वाः सु-रथाः) अच्छे घोडों तथा रथोंसे युक्त एवं (सु-आयुधाः) अच्छे हथियार धारण करनेहारे (स्थ) हो और इसीलिए तुम (शुभं) लोककल्याण के लिए (वि याथन) जाते हो।

२८६ (दाशुषे) दानी को (वसु) धन देनेके लिए जब तुम चढाई करते हो तब (द्यां) द्युलोक को और (पर्वतान्) पहाडोंको भी तुम (धूनुथ) हिला देते हो। उस (वः) तुम्हारे (यामनः भिया) हमले के डरसे (वना) अरण्य भी (नि जिहते) बहुतही काँपने लगते हैं। हे (पृश्नि-मातरः !) भूमिको माता समझनेवाले वीरो ! (शुभे) लोककल्याण के लिए (यत्) जब तुम (उग्राः) उग्र स्वरूपवाले वीर बन (पृषतीः) धब्बेवाली हरिणियाँ रथों में (अयुग्ध्वं) जोडते हो, तब (पृथिवीं कोपयथ) भूमिको क्षुब्ध कर डालते हो।

भावार्थ- २८४ वीर हमारे पास आ जायँ और प्यासे हुए लोगोंको जल दें और हमारी वाणी उनका काव्यगायन करें। २८५ सभी भाँति के शस्त्रास्त्रों एवं हथियारोंसे सुसज्ज बनकर ये वीर शत्रुदल पर भीषण आक्रमण का सूत्रपात करते हैं। २८६ वीर सैनिक हाथ में शस्त्रास्त्र लेकर जब सज्ज होते हैं तब सभी लोग सहम जाते हैं।

टिप्पणी- [२८४] (१) इन्द्रः = इन्द्र, राजा, ईश्वर, श्रेष्ठ, प्रभु। इन्द्रवन्तः = राजा के साथ रहनेवाले वीर, जिनका प्रभु इन्द्र हो। (२) सुवित = सुदैव, कल्याण, वैभव की समृद्धि। (३) स-जोषसः = (समानप्रीतयः) एक दूसरे पर समान प्रीति करनेवाले, समान उत्साही।

(२८७) वार्तऽत्विषः । मरुतः । वर्षऽनिर्निजः । यमाःऽइव । सुऽसदृशः । सुऽपेशसः ।
पिशङ्गऽअश्वाः । अरुणऽअश्वाः । अरेपसः । प्रऽत्वक्षसः । महिना । द्यौःऽइव । उरवः ॥४॥
(२८८) पुरुऽद्रप्साः । अञ्जिऽमन्तः । सुऽदानवः । त्वेषऽसंदृशः । अनवभ्रऽराधसः ।
सुऽजातासः । जनुषा । रुक्मऽवक्षसः । दिवः । अर्काः । अमृतम् । नाम । भेजिरे ॥५॥
(२८९) ऋष्टयः । वः । मरुतः । अंसयोः । अधि । सहः । ओजः । बाह्वोः । वः । बलम् । हितम् ।
नृम्णा । शीर्षऽसु । आयुधा । रथेषु । वः । विश्वा । वः । श्रीः । अधि । तनूषु । पिपिशे ॥६॥

अन्वयः- २८७ मरुतः वात-त्विषः वर्ष-निर्णिजः यमाःइव सु-सदृशः सु-पेशसः पिशङ्ग-अश्वाः अरुण-अश्वाः अ-रेपसः प्र-त्वक्षसः महिना द्यौःइव उरवः। २८८ पुरु-द्रप्साः अञ्जि-मन्तः सु-दानवः त्वेष-संदृशः अन्-अवभ्र-राधसः जनुषा सु-जातासः रुक्म-वक्षसः दिवः अर्काः अ-मृतं नाम भेजिरे। २८९ (हे) मरुतः ! वः अंसयोः ऋष्टयः, वः बाह्वोः सहः ओजः बलं अधि हितं, शीर्षसु नृम्णा, वः रथेषु विश्वा आयुधा, वः तनूषु श्रीः अधि पिपिशे।

अर्थ- २८७ (मरुतः) वीर मरुत् (वात-त्विषः) प्रखर तेजसे युक्त, (वर्ष-निर्णिजः) स्वदेशी कपडा पहननेवाले हैं। (यमाःइव) यमज भाई के समान (सु-सदृशः) बिलकुल तुल्यरूप तथा (सु-पेशसः) सुन्दर रूपवाले हैं। वे (पिशङ्ग-अश्वाः) भूरे रंगके एवं (अरुण-अश्वाः) लाल रंगके घोडे समीप रखनेवाले, (अ-रेपसः) पापरहित तथा (प्र-त्वक्षसः) शत्रुओंका पूर्ण विनाश करनेवाले. अपने (महिना) महत्त्व के कारण (द्यौःइव उरवः) आकाश के तुल्य बडे हुए हैं। २८८ (पुरु-द्रप्साः) यथेष्ट जल समीप रखनेवाले, (अञ्जि-मन्तः) वस्त्रालंकार-गणवेश-धारण करनेवाले, (सु-दानवः) दानशूर, (त्वेष-संदृशः) तेजस्वी दीख पडनेवाले, (अन्-अवभ्र-राधसः) जिनका धन कोई छीन नहीं ले जा सकता ऐसे, (जनुषा सु-जातासः) जन्मसे उत्तम परिवारमें उत्पन्न (रुक्म-वक्षसः) सुवर्णके अलंकार छाती पर धरनेहारे, (दिवः) तेजःपुञ्ज तथा (अर्काः) पूजनीय वीर (अ-मृतं नाम भेजिरे) अमर कीर्ति पा चुके। २८९ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (वः अंसयोः ऋष्टयः) तुम्हारे कंधों पर भाले रखे हैं। (वः बाह्वोः) तुम्हारी भुजाओं में (सहः ओजः) शत्रु को पराभूत करनेका बल तथा (बलं) सामर्थ्य (अधि हितं) रखा हुआ है। (शीर्षसु) माथों पर (नृम्णा) सुवर्णमय शिरोवेष्टन, (वः रथेषु) तुम्हारे रथों में (विश्वा आयुधा सभी हथियार विद्यमान हैं। (वः तनूषु तुम्हारे शरीरों पर (श्रीः अधि पिपिशे) तेज अत्यधिक शोभा बढा रहा है।

भावार्थ- २८७ जो वीर शत्रुका नाश करते हैं, वे अपने प्रभावसे ही बडप्पनको प्राप्त होते हैं। २८८ वीर सैनिक पराक्रम करके बडी भारी यशस्विता एवं ख्याति प्राप्त करें। २८९ वीर सैनिक तथा उनके रथ हथियारोंसे सदैव सुसज्ज रहते हैं।

टिप्पणी- [२८७] (१) वात = (वा गतिगन्धनयो) फूँका हुआ, भडकाया (प्रखर), वायु। (२) वर्ष = बरसात, देश, राष्ट्र। निर्णिक् = वस्त्र, आच्छादन। वर्ष-निर्णिज् = (१) वर्षा जिनका पहनावा है। (२) स्वदेशी पहनावा करनेवाले। मरुत् भूमिको माता समझनेवाले (पृश्नि-मातरः) हैं, इसलिए अपने देशमें बना हुआ कपडा ही पहनते हैं। यह अर्थ अधिभूतपक्ष में संभवनीय है। अधिदैवत पक्षमें मरुत् आँधी के वायुप्रवाह हैं, जिनका पहनावा वर्षा है। दोनों स्थलोंमें अर्थका श्लेष आसानीसे ध्यानमें आ सकता है। [२८८] (१) द्रप्स = गिर पडना, बिन्दु, जल-बिन्दु (Drops)। पुरु-द्रप्स = समीप यथेष्ट जल रखनेवाले, पसीनेसे तर। [२८९] (१) नृम्णं = पौरुष, बल, धैर्य, धन, पगडी (सायण)। इस मंत्र से प्रतीत होता है कि, मरुतोंका रथ बहुत ही विशाल तथा बृहदाकार का रहा हो। क्योंकि इस रथ पर (विश्वा आयुधा) समूचे शस्त्रास्त्र रखे जाते हैं; स्थिर धनुष्य (मंत्र ९३) तथा चल धनुष्य भी पाये जाते हैं। धनुर्धरक के वीर धनुष्य की डोरियाँ तोडने पर तुले रहते हैं और कभी कभी धनुष्यके भी तोड जाने

(२९०) गोऽमंत् । अश्वंऽवत् । रथंऽवत् । सुऽवीरम् । चन्द्रऽवंत् । राधः । मरुतः । दुद । नः ।
प्रऽशंस्तिम् । नः । कृणुत । रुद्रियासः । भक्षीय । वः । अवंसः । दैव्यस्य ॥७॥

(२९१) हये । नरः । मरुतः । मृळतं । नः । तुविऽमघासः । अमृताः । ऋतंऽज्ञाः ।
सत्यंऽश्रुतः । कवंयः । युवानः । बृहंत्ऽगिरयः । बृहत् । उक्षमाणाः ॥८॥

(ऋ० ५।५८।१-८)

(२९२) तम् । ऊँ इतिं । नूनम् । तविंषीऽमन्तम् । एषाम् । स्तुषे । गणम् । मारुतम् । नव्यंसीनाम् ।
ये । आशुऽअंश्वाः । अमंऽवत् । वहंन्ते । उत । ईशिरे । अमृतंस्य । स्वऽराजः ॥१॥

अन्वयः— २९० (हे) मरुतः ! गो-मत् अश्व-वत् रथ-वत् सु-वीरं चन्द्र-वत् राधः नः दद, (हे) रुद्रियासः ! नः प्र-शस्तिं कृणुत, वः दैव्यस्य अवसः भक्षीय । २९१ हये नरः मरुतः ! तुवि-मघासः अ-मृताः ऋत-ज्ञाः सत्य-श्रुतः कवयः युवानः बृहत्-गिरयः बृहत् उक्षमाणाः नः मृळत । २९२ स्व-राजः ये आशु-अश्वाः अम-वत् वहन्ते उत अ-मृतस्य ईशिरे तं उ नूनं एषां नव्यसीनां मारुतं तविषी-मन्तं गणं स्तुषे ।

अर्थ- २९० हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (गो-मत्) गौओं से युक्त, (अश्व-वत्) घोडों से युक्त, (रथ-वत्) रथों से युक्त, (सु-वीरं) वीरों से परिपूर्ण तथा (चन्द्र-वत्) सुवर्ण से युक्त, (राधः) अन्न (नः दद) हमें दे दो । हे (रुद्रियासः !) वीरो ! (नः) हमारी (प्र-शस्ति) वैभवशालिता (कृणुत) करो । (वः) तुम्हारी (दैव्यस्य अवसः) दिव्य संरक्षणशक्ति का हम (भक्षीय) सेवन कर सकें ऐसा करो ।

२९१ (हये नरः मरुतः !) हे नता एवं वीर मरुतो ! (तुवि-मघासः) बहुत सारे धनसे युक्त, (अ-मृताः) अमर, (ऋतज्ञाः) सत्य को जाननेवाले, (सत्य-श्रुतः) सत्य कीर्ति से युक्त, (कवय. युवानः) ज्ञानी एवं युवक, (बृहत्-गिरयः) अत्यन्त सराहनीय और (बृहत् उक्षमाणा.) प्रचंड बल से युक्त तुम (नः मृळत) हमें सुखी बनाओ ।

२९२ (स्व-राजः) स्वयंशासक ऐसे (ये) जो वीर (आशु-अश्वाः) वेगवान घोडों को समीप रखनेवाले हैं, इसलिए (अम-वत् वहन्ते) अतिवेग से चले जाते हैं, (उत) और जो (अ-मृतस्य ईशिरे) अमर लोक पर प्रभुत्व प्रस्थापित करते हैं (तं उ नूनं) उस सचमुच (एषां) इन (नव्यसीनां) सराहनीय (मारुतं) वीर मरुतों के (तविषी-मन्तं गणं स्तुषे) बलिष्ठ गण-संघ की तू स्तुति कर ले ।

भावार्थ- २९० हर तरह से सहायता करके और हमारा संरक्षण करके वीर हमारी प्रगति में मददगार हों । हमें अन्न की प्राप्ति ऐसी हो कि जिसके साथ गौ, रथ, अश्व एवं वीर सैनिक की समृद्धि हो जाय ।

२९१ ऐसे वीर जनता का संरक्षण कर हम सब को सुखी बना दें ।

२९२ जो वीर वन्दनीय हों उनकी प्रशंसा सभी को करनी चाहिए । येही वीर इहलोक तथा परलोक पर प्रभुत्व प्रस्थापित करने की क्षमता रखते हैं ।

की संभावना होने के कारण बहुत से धनुष्य रखना अनिवार्य हो, तो आश्चर्य नहीं । वैसे ही कुल्हाडी, भाला, गदा तथा अन्य हथियार रथ में ही रखने पडते थे । अतः रथ बहुत बडा हो, तो स्वाभाविक है । ये सभी आयुध भली भाँति पृथक् पृथक् रखने चाहिए और प्रबंध ऐसा हो कि चाहे जो हथियार ठीक मौके पर हाथमें आ जाय । यदि इस तरहकी व्यवस्थाको मान लें तो यह स्पष्ट है कि, इन महारथियोंका रथ अत्यन्त विशाल प्रमाण पर बना हुआ होगा । [२९०] (१) चन्द्र = कर्पूर, जल, सोना, चन्द्रमा । (२) प्र-शस्ति = स्तुति, वर्णन, मार्गदर्शकता, उत्कृष्टता (वैभव) । [२९१] (१) मघं = दान, धन, महत्त्वयुक्त द्रव्य । (२) गिरि = पर्वत, वाणी, स्तुति, आदरणीय, माननीय । [२९२] (१) स्व-राज् = (राज् दीप्तौ = प्रकाशना, अधिकार प्रस्थापित करना) स्वयंशासक, स्वयंप्रकाश । (२) नव्यसीनां (नु स्तुतौ = प्रशंसा करना; नवितुं योग्यः नव्यः।)=नूतन, सराहनीय । (३) अ-मृत = अमर, अमरपन, देव, स्वर्ग, संपत्ति ।

(२९३) त्वेषम् । गणम् । तवसम् । खादिऽहस्तम् । धुनिऽव्रतम् । मायिनम् । दातिऽवारम् ।
मयःऽभुवः । ये । अमिताः । महिऽत्वा । वन्दस्व । विप्र । तुविऽराधसः । नॄन् ॥२॥
(२९४) आ । वः । यन्तु । उदऽवाहासः । अद्य । वृष्टिम् । ये । विश्वे । मरुतः । जुनन्ति ।
अयम् । यः । अग्निः । मरुतः । सम्ऽइद्धः । एतम् । जुषध्वम् । कवयः । युवानः ॥३॥
(२९५) यूयम् । राजानम् । इर्यम् । जनाय । विभ्वऽतष्टम् । जनयथ । यजत्राः ।
युष्मत् । एति । मुष्टिऽहा । बाहुऽजूतः । युष्मत् । सत्ऽअश्वः । मरुतः । सुऽवीरः ॥४॥

अन्वयः— २९३ हे (विप्र !) ये मयो-भुवः महित्वा अ-मिताः तुवि राधसः नॄन्, तवसं खादि-हस्तं धुनि-व्रतं मायिनं दाति-वारं त्वेषं गणं वन्दस्व । २९४ ये उद-वाहासः वृष्टिं जुनन्ति विश्वे मरुतः अद्य वः आ यन्तु, (हे) कवयः युवानः मरुतः ! यः अयं अग्निः सम्-इद्धः एतं जुषध्वं । २९५ (हे) यजत्राः मरुतः ! यूयं जनाय इर्यं विभ्व-तष्टं राजानं जनयथ, युष्मत् मुष्टि-हा बाहु-जूतः एति युष्मत् सत्-अश्वः सु-वीरः ।

अर्थ- २९३ हे (विप्र !) ज्ञानी पुरुष ! (ये मयो-भुव) जो सुखदायक, (महित्वा) बडप्पन से (अ-मिताः) असीम सामर्थ्यवान तथा (तुवि-राधसः) यथेष्ट धनाढ्य हैं, उन (नॄन्) नेता वीरपुरुषों को तथा (तवसं) बलिष्ठ एवं (खादि-हस्तं) हाथ में वलय कडे धारण करनेवाले, (धुनि-व्रतं) शत्रुओं को हिला देने का व्रत जिन्होंने ले लिया हो, ऐसे (मायिनं) कुशल (दाति वारं) दानी या शत्रु का वध करके उसे दूर करनेवाले, (त्वेषं) तेजस्वी ऐसे उन वीरों के (गणं वन्दस्व) संघ को नमन कर ।

२९४ (ये उद-वाहासः) जो जल देनेवाले (वृष्टिं जुनन्ति) वृष्टि को प्रेरणा देते हैं, वे (विश्वे मरुतः) सभी वीर मरुत् (अद्य) आज (वः) तुम्हारी ओर (आ यन्तु) आ जायँ । हे (कवयः) ज्ञानी तथा (युवानः मरुतः !) युवक वीर मरुतो ! (यः अयं) जो यह (अग्निः सम्-इद्धः) अग्नि प्रज्वलित किया गया है, (एतं जुषध्वं) इसका सेवन करो ।

२९५ हे (यजत्राः मरुतः !) यज्ञ करनेवाले वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (जनाय) लोककल्याण के लिए (इर्यं) शत्रुविनाशक तथा (विभ्व-तष्टं) कुशलतापूर्वक कार्य करनेहारे (राजानं) राजा को (जनयथ) उत्पन्न कर देते हो । (युष्मत्) तुमसे (मुष्टि-हा) मुष्टि-योधी और (बाहु-जूतः) बाहुबल से शत्रु को हटानेवाला वीर (एति) आ जाता है, हमें प्राप्त होता है । (युष्मत्) तुमसे ही (सत्-अश्वः) अच्छे घोडे रखनेवाला (सु-वीरः) अच्छा वीर तैयार हो जाता है ।

भावार्थ- २९३ सभी लोग ऐसे वीरोंका अभिवादन करें । २९४ सबको जल देकर संतुष्ट करनेवाले वीर जनताके निकट आकर उन्हें संतुष्ट करें और वहीं पर जलती या धधकती हुई अँगीठीके समीप बैठ जायँ । २९५ जनताका हित हो इसलिए दुश्मनों को विनष्ट करनेवाला, कुशलतापूर्वक सभी राज्यशासनके कार्य करनेवाला नरेश राष्ट्रपतिकी हैसियतसे पदाधिकारी चुना जाता है । उसी प्रकार मुष्टियोधी महाबाहु वीर तथा अच्छे घोडे समीप रखनेवाला वीर भी राष्ट्रमें जन्म ले लेता है ।

टिप्पणी- [२९३] (१) व्रत = शपथ, वचन, निश्चय, कृत्य, योजना । धुनि-व्रत = शत्रुदल को हिलाने का व्रत जिसने लिया हो । (२) दाति-वारः = (दातिः = देन, वारः = बडा प्रमाण, समूह) बडे पैमाने पर दान देनेवाला; (दा अवखण्डने) [दाति,] वध करके [वार] निवारक, शत्रुको हटानेवाला । [२९४] (१) उद-वाह= जल ढोनेवाला, मेघ, पानी पहुँचानेवाला । [२९५] (१) इर्य = प्रेरक, स्वामी, चपल, शक्तिमान; (शत्रुओंका) विनाश करनेहारा । (२) राजानं इर्यं = तेजस्वी राजा को (प्रभु को) । (३) विभ्व-तष्ट = (विभ्व = कुशल, कारीगर, व्यापक); (तष्ट) = (तक्ष् तनूकरणे = बनाना,) कुशलतापूर्वक कार्य करनेहारा । (विभ्वैः) चतुर तथा निष्णात शिक्षकों द्वारा सिखाकर (तष्टः) तैयार किया हुआ ।

(२९६) अराःऽईव । इत् । अचरमाः । अहाऽइव । प्रऽप्र । जायन्ते । अकवा । महःऽभिः ।
पृश्नेः । पुत्राः । उपऽमासः । रभिष्ठाः । स्वया । मत्या । मरुतः । सम् । मिमिक्षुः ॥५॥
(२९७) यत् । प्र । अयासिष्ट । पृषतीभिः । अश्वैः । वीळुपविऽभिः । मरुतः । रथेभिः ।
क्षोदन्ते । आपः । रिणते । वनानि । अव । उस्रियः । वृषभः । क्रन्दतु । द्यौः ॥६॥
(२९८) प्रथिष्ट । यामन् । पृथिवी । चित् । एषाम् । भर्ताऽइव । गर्भम् । स्वम् । इत् । शवः । धुः ।
वातान् । हि । अश्वान् । धुरि । आऽयुयुज्रे । वर्षम् । स्वेदम् । चक्रिरे । रुद्रियासः ॥७॥

अन्वयः— २९६ अराःइव इत् अ-चरमाः अहाइव महोभिः अ-कवाः प्र प्र जायन्ते, उप मासः रभिष्ठाः पृश्नेः पुत्राः स्वया मत्या सं मिमिक्षुः। २९७ (हे) मरुतः! यत् पृषतीभिः अश्वैः वीळु-पविभिः रथेभिः प्र अयासिष्ट आपः क्षोदन्ते वनानि रिणते, उस्रियः वृषभः द्यौः अव क्रन्दतु। २९८ एषां यामन् पृथिवी चित् प्रथिष्ट, भर्ताइव गर्भं स्वं इत् शवः धुः, हि वातान् अश्वान् धुरि आयुयुज्रे रुद्रियासः स्वेदं वर्षं चक्रिरे।

अर्थ— २९६ (अराःइव इत्) पहिये के आरों के समानही (अ-चरमाः) सभी समान दीख पडनेवाले तथा (अहाइव) दिवसतुल्य (महोभिः) बडे भारी तेजसे युक्त होकर (अ-कवाः) अवर्णनीय ठहरनेवाले ये वीर (प्र प्र जायन्ते) प्रकट होते हैं। (उप मासः) लगभग समान कदके (रभिष्ठाः) अतिवेगवान ये (पृश्नेः पुत्राः) मातृभूमि के सुपुत्र (मरुतः) वीर मरुत् (स्वया मत्या) अपने मनसे ही (सं मिमिक्षुः) सब कोई मिलकर एकतापूर्वक विशेष कार्य का सृजन करते हैं।

२९७ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (यत्) जब (पृषतीभिः अश्वैः) धब्बेवाले घोडे जोते हुए (वीळु-पविभिः) दृढ तथा सामर्थ्यवान पहियोंसे युक्त (रथेभिः) रथोंसे तुम (प्र अयासिष्ट) जाने लगते हो तब (आपः क्षोदन्ते) सभी जलप्रवाह क्षुब्ध हो उठते हैं, (वनानि रिणते) वनोंका नाश होता है, तथा (उस्रियः वृषभः) प्रकाशयुक्त वर्षा करनेहारा, (द्यौः) आकाश तक (अव क्रन्दतु) भीषण शब्दसे गूँज उठता है।

२९८ (एषां यामन्) इन वीरों के आक्रमण से (पृथिवी चित्) भूमितक (प्रथिष्ट) विख्यात हो चुकी है। (भर्ता इव) पति जैसे पत्नी में (गर्भं) गर्भ की स्थापना करता है, वैसे ही इन्होंने (स्वं इत्) अपनाही (शवः धुः) बल अपने राष्ट्र में प्रस्थापित किया (हि) और (वातान् अश्वान्) वेगवान् घोडों को (धुरि आ युयुज्रे) रथ के अगले भाग में जोत दिया और (रुद्रियासः) उन वीरोंने (स्वेदं वर्षं चक्रिरे) अपने पसीने की मानों वर्षासी की, पराक्रम की पराकाष्ठा कर दिखायी।

भावार्थ- २९६ ये सभी वीर तुल्यरूप दीख पडते हैं और समान ढंगके तेजस्वी हैं। वे अपना कर्तव्य वेगसे पूर्ण कर देते हैं और अपनी मातृभूमिकी सेवामें मिलजुलकर अविषम भावसे विशिष्ट कार्यको संपन्न कर देते हैं। २९७ जब मरुत् शत्रुदल पर हमले चढाने लगते हैं, याने वायु बहने लगती है, उस समय जलप्रवाह खौलला उठते हैं, वन के पेड टूट गिरने लगते हैं और आकाश के वर्षा करनेहारे मेघ भी गरजने लगते हैं। २९८ इन वीरों के शत्रुदल पर होनेवाले आक्रमणों के फलस्वरूप मातृभूमि विख्यात हुई। इन्होंने अपना बल राष्ट्र में प्रस्थापित किया और घोडों से रथ संयुक्त करके जब ये चढाई करने लगे, तब (इस युद्ध में) पसीने से तर होने तक वीरतापूर्ण कार्य करते रहे।

टिप्पणी- [२९६] (१) चरम = अंतिम, निम्न श्रेणीका (छोटासा, अल्प प्रमाण का)। अ-चरम = बडा, तुल्य, निम्न श्रेणीका नहीं। (२) अ-कवाः (कव् = वर्णन करना) = अवर्णनीय अदुष्ट, अकुत्सित। (३) सं-मिह् = सं-मिक्ष् = मिलावट करना (To mix with), निर्माण करना (endow with, to prepare, to furnish) तयार करना, सुसज्ज बनाना। उपमासः रभिष्ठाः पृश्नेः पुत्राः स्वया मत्या संमिमिक्षुः = ये मातृभूमि के सुपुत्र वीर समानतापूर्ण बर्ताव करते हैं अविषम दशामें रहते हैं और अपने कर्तव्यको ऐक्यसे निभाते हैं। देखो मंत्र २०५, ४५३; जिनमें साम्यभावका वर्णन किया है। [२९७] (१) उस्रियः = गौविषयक, बैलके बारेमें, बैल, प्रकाश, दूध, बछडा।

(२९९) हुये । नरः । मरुतः । मृळत । नः । तुविऽमघासः । अमृताः । ऋतऽज्ञाः ।
सत्यऽश्रुतः । कवयः । युवानः । बृहत्ऽगिरयः । बृहत् । उक्षमाणाः ॥८॥
(ऋ० ५।५८।१-८)

(३००) प्र । वः । स्पट् । अक्रन् । सुविताय । दावने । अर्च । दिवे । प्र । पृथिव्यै । ऋतम् । भरे ।
उक्षन्ते । अश्वान् । तरुषन्ते । आ । रजः । अनु । स्वम् । भानुम् । श्रथयन्ते । अर्णवैः ॥१॥

(३०१) अमात् । एषाम् । भियसा । भूमिः । एजति । नौः । न । पूर्णा । क्षरति । व्यथिः । यती ।
दूरेऽदृशः । ये । चितयन्ते । एमऽभिः । अन्तः । महे । विदथे । येतिरे । नरः ॥२॥

अन्वयः— २९९ [ऋ० ५।५७।८; २९१ देखिए ।] ३०० वः सुविताय दावने स्पट् प्र अक्रन्, दिवे अर्च, पृथिव्यै ऋतं प्र भरे, अश्वान् उक्षन्ते, रजः आ तरुषन्ते, स्वं भानुं अर्णवैः अनु श्रथयन्ते। ३०१ एषां अमात् भियसा भूमिः एजति, पूर्णा यती व्यथिः नौः न, क्षरति, दूरे-दृशः ये एमभिः चितयन्ते (ते) नरः विदथे अन्तः महे येतिरे ।

अर्थ- २९९ [ऋ० ५।५७।८; २९१ देखिए ।]

३०० (वः सुविताय) तुम्हारा अच्छा कल्याण हो तथा (दावने) अच्छा दान दिया जा सके, इसलिए (स्पट्) याजक इस कर्म का (प्र अक्रन्) उपक्रम या प्रारंभ कर रहा है; तूभी (दिवे अर्च) प्रकाशक देव की, द्युलोककी पूजा कर और मैं भी (पृथिव्यै) मातृभूमि के लिए (ऋतं प्र भरे) स्तोत्र का गायन करता हूँ । वे वीर (अश्वान् उक्षन्ते) अपने घोड़ों को बलवान बनाते हैं तथा (रजः आ तरुषन्ते) अन्तरिक्षसे भी परे चले जाते हैं और (स्वं भानुं) अपने तेजको (अर्णवैः) समुद्रों से-समुद्रपर्यटनोंद्वारा-समुद्रमें से भी (अनु श्रथयन्ते) फैला देते हैं ।

३०१ (एषां) इनके (अमात् भियसा) बलके डरसे (भूमिः एजति) पृथ्वी काँप उठती है और (पूर्णा) वस्तुओं से भरी होने के कारण (यती) जाते समय (व्यथिः नौः न) पीडित होनेवाली नौका के समान यह (क्षरति) आन्दोलित, स्पन्दित हो उठती है । (दूरे-दृशः) दूरसे दिखाई देनेवाले, (ये) जो (एमभिः) वेगयुक्त गतियों से (चितयन्ते) पहचाने जाते हैं, वे (नरः) नेता वीर (विदथे अन्तः) युद्ध मे रहकर (महे) बडप्पन पाने के लिए (येतिरे) प्रयत्न करते हैं ।

भावार्थ- [२९९ ऋ० ५।५७।८; २९१ देखिए ।] ३०० सबका भला हो और सबको सहायता पहुँचे, इस हेतु से याजक इस यज्ञका प्रारम्भ करता है । प्रकाशके देवताकी पूजा करो और मातृभूमिके सूक्तोंका गायन करो । वीर अपने घोडों को किसी भी भूभाग पर चढाई करनेके लिये सज्ज दशामें रखते हैं और (विमान पर चढकर) अन्तरिक्षमें संचार करते हैं, (तथा नौका एवं जहाजों परसे समुद्रयात्रा करके सुदूरवर्ती देशोंमें अपना तेज फैला देते हैं।) ३०१ इन वीरोंमें भारी बल विद्यमान है, इस कारणसे भूमंडल परके देश मारे डरके काँपने लगते हैं । लदी हुई परिपूर्ण नौका जिस तरह पवनके कारण हिलनेडोलने लगी, तो तनिक भय प्रतीत होने लगता है, ठीक उसी प्रकार सभी लोग इनकी शीघ्रगामिता के परिणामस्वरूप कुछ अंश में भयभीत हो जाते हैं । चूँकि इनका धावा विद्युत्गति से हुआ करता है, अतः इन वीरों को सभी पहचानते हैं । जब ये रणक्षेत्र में शत्रुदल से जूझते हैं, तब इनके मनमें एक ही विचार तथा ख्याल जागृत रहता है कि, यथासंभव बडप्पन प्राप्त करना ही चाहिए ।

टिप्पणी- [२९९] [ऋ० ५।५७।८; २९१ देखिए।] [३००] (१) तरुषः = जीतनेवाला, तरुष्यति = चढाई करना, तरुस् = लडाई, श्रेष्ठत्व, हमला करना । (२) स्पट् (स्पश्)= स्पष्टा, होता, याजक, निरीक्षक । स्वं भानुं अर्णवैः अनु श्रथयन्ते = अपना तेज समुद्रोंके परे के जाकर फैला देते हैं । [३०१] (१) दूरे-दृशः = दूरसे दीख पडनेवाले, दूरदर्शिता से कार्य करनेवाले, दूरवर्ती ।

(३०२) गवाम्ऽइव । श्रियसे । शृङ्गम् । उत्ऽतमम् । सूर्यः । न । चक्षुः । रजसः । विऽसर्जने ।
अत्याःऽइव । सुऽभ्वः । चारवः । स्थन । मर्याःऽइव । श्रियसे । चेतथ । नरः ॥३॥

(३०३) कः । वः । महान्ति । महताम् । उत् । अश्नवत् । कः । काव्या । मरुतः । कः । ह । पौंस्या ।
यूयम् । ह । भूमिम् । किरणम् । न । रेजथ । प्र । यत् । भरध्वे । सुविताय । दावने ॥४॥

अन्वयः— ३०२ (हे) नरः ! गवांऽइव उत्तमं शृङ्गं श्रियसे, रजसः विसर्जने, सूर्यः न, चक्षुः; अत्याःऽइव सु-भ्वः चारवः स्थन; मर्याःऽइव, श्रियसे चेतथ।

३०३ (हे) मरुतः ! महतां वः महान्ति कः उत् अश्नवत्, कः काव्या, कः ह पौंस्या, यत् सुविताय दावने प्र भरध्वे यूयं ह, किरणं न, भूमिं रेजथ।

अर्थ- ३०२ हे (नरः !) नेता वीरो ! (गवांऽइव उत्तमं शृङ्गं) गौओं के अच्छे सींग के तुल्य (श्रियसे) शोभा के लिए तुम सुन्दर शिरोवेष्टन धारण करते हो, तथा (रजसः विसर्जने) अँधेरा दूर हटाने के लिए (सूर्यः न चक्षुः) सूर्य की नाईं तुम लोगों के नेत्र बनते हो। (अत्याःऽइव) तुम शीघ्रगामी घोडों के समान स्वयमेव (सु-भ्वः) उत्तम बने हुए एवं (चारवः) दर्शनीय (स्थन) हो और (मर्याःऽइव) मर्त्यों के समान (श्रियसे चेतथ) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए तुम सचेष्ट बने रहते हो।

३०३ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (महतां वः) तुम जैसे महान सैनिकों की (महान्ति) महानता या बडप्पन की (कः उत् अश्नवत्) भला कौन बराबरी करता है ? (कः काव्या ?) कौन भला तुम्हारे काव्य रचने की स्फूर्ति पाता है ? (कः ह पौंस्या) किसे भला तुम्हारे तुल्य सामर्थ्य प्राप्त हुए ? (यत्) जब (सुविताय दावने) अत्यन्त उच्च कोटिके दान देनेके लिए तुम (प्र भरध्वे) पर्याप्त धन पाते हो, तब (यूयं ह) तुम सचमुच (किरणं न) एकाध धूलिकणके समान (भूमिं रेजथ) पृथ्वीको भी हिला देते हो।

भावार्थ- ३०२ ये वीर शोभा के लिए माथों पर शिरोवेष्टन धर देते हैं। जैसे सूर्य अँधेरे को हटाता है, वैसे ही ये वीर जनता की उदासीनता को दूर भगा देते हैं और इसे उमंग एवं हौसले से भर देते हैं। घुडदौड के लिए तैयार किये हुए घोडे जैसे सुन्दर प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये मनोहर स्वरूपवाले होते हैं और हमेशा अपनी प्रगति तथा वैभवशालिता करने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

३०३ इस अवनीतल पर भला ऐसा कौन है, जो इन वीरोंके समकक्ष बन सके ? इनके अतिरिक्त क्या कोई ऐसा है, जिसके विषयमें वीररसपूर्ण काव्योंका सृजन कोई करे ? इनमें जो वीरता है, जो पुरुषार्थ है, भला वह किसी दूसरेमें पाये भी जाते हैं ? जिस समय ये भूरि भूरि दान देनेके लिए प्रचुर धन बटोरनेकी चेष्टामें संलग्न रहते हैं, अर्थात् भीषण एवं लोमहर्षण युद्ध छेड देते हैं, तब समूची पृथ्वी विचलित हो उठती है, सारा भू-मंडल स्पंदित हो जाता है।

टिप्पणी- [३०२] (१) रजस् = धूलि, पराग, किरण, अँधेरा, मानसिक अज्ञान, अन्तरिक्ष, मेघ । (२) मर्यः = मर्त्य, मानव, युवक, दूल्हा (Suitor)। मर्याः इव श्रियसे चेतथ = दूल्हे के समान शोभा के लिए तुम प्रयत्न करते हो।

[३०३] (१) किरण = किरण, धूलिकण, किरणपथ में दीख पडनेवाला कण।

(३०४) अश्वाःऽइव। इत्। अरुषासः। सऽबन्धवः। शूराःऽइव। प्रऽयुधः। प्र। उत। युयुधुः।
मर्याःऽइव। सुऽवृधः। ववृधुः। नरः। सूर्यस्य। चक्षुः। प्र। मिनन्ति। वृष्टिऽभिः ॥५॥

(३०५) ते। अज्येष्ठाः। अकनिष्ठासः। उत्ऽभिदः।
अमध्यमासः। महसा। वि। ववृधुः।
सुऽजातासः। जनुषा। पृश्निऽमातरः।
दिवः। मर्याः। आ। नः। अच्छ। जिगातन ॥६॥

अन्वयः— ३०४ अश्वाःइव इत् अरुषासः स-बन्धवः उत शूराःइव प्र-युधः प्र युयुधुः, नरः मर्याःइव सु-वृधः ववृधुः, वृष्टिभिः सूर्यस्य चक्षुः प्र मिनन्ति।

३०५ ते अ-ज्येष्ठाः अ-कनिष्ठासः अ-मध्यमासः उत्-भिदः महसा वि ववृधुः, जनुषा सु-जातासः पृश्नि-मातरः दिवः मर्याः नः अच्छ आ जिगातन।

अर्थ- ३०४ वे वीर (अश्वाःइव इत्) घोडोंके समान ही (अरुषासः) तनिक लाल वर्णके हैं (स-बन्धवः) एक दूसरे से भाईचारे का बर्ताव रखनेवाले हैं (उत) और उसी प्रकार (शूराःइव) शूरों के समान (प्र-युधः) अच्छे योद्धा हैं, इसलिए वे (प्र युयुधुः) भली भाँति लडते हैं। (नरः) वे नेता वीर (मर्याःइव) मानवोंके समान (सु-वृधः) अच्छी तरह बढनेवाले हैं, अतएव (ववृधुः) यथेष्ट बढते हैं। वे अपनी (वृष्टिभिः) वर्षाओं से (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्य के तेज को भी (प्र मिनन्ति) घटा देते हैं।

३०५ (ते) उनमें कोई (अ-ज्येष्ठाः) श्रेष्ठ नहीं, कोई (अ-कनिष्ठासः) कनिष्ठ भी नहीं और कोई (अ-मध्यमासः) मँझली श्रेणीका भी नहीं, वे सभी समान हैं, [साम्यवाद को कार्यरूप में परिणत करनेवाले हैं।] वे (उत्-भिदः) उन्नति के लिए शत्रुका भेदन कर ऊपर उठनेवाले हैं, अतएव वे अपने (महसा) तेजसे (वि ववृधुः) विशेष ढंगसे वृद्धिगत होने हैं। वे (जनुषा) जन्म से (सु-जातासः) प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न अर्थात् कुलीन तथा (पृश्नि-मातरः) भूमि को माता माननेवाले, (दिवः) स्वर्गीय (मर्याः) मानव ही हैं। वे (नः अच्छ) हमारी ओर (आ जिगातन) आ जायँ।

भावार्थ- ३०४ ये वीर तेजस्वी हैं, तथा पर्याप्त भ्रातृभाव भी इनमें विद्यमान है। अच्छे, कुशल सैनिक होते हुए वे भली भाँति लडकर युद्धों में विजयी बनते हैं। वे पूर्णरूप से बढते हुए अपने तेज से सूर्य को भी मानों परास्तसा कर देते हैं।

३०५ इन वीरों में कोई भी ऊँचा, मँझला या नीचा नहीं है, इस तरह का भेदभाव नहीं के बराबर है। क्योंकि वे सभी समान हैं और उन्नति के लिए मिलजुलकर प्रयत्न करते हैं। सभी कुलीन हैं और भूमि को मातृवत् आदरभरी निगाह से देखते हैं। वे मानों स्वर्ग से भूमि पर उतरनेवाले मानव ही हैं। हमारी लालसा है कि वे हमारे मध्य आकर निवास कर ले।

टिप्पणी- [३०४] (१) चक्षुः = आँख, दृष्टि, तेज। (२) मी = (गतौ हिंसायां च) वध करना, कष्ट पहुँचाना, कम करना, बदलना, नष्ट होना, भटकना।

[३०५] (१) उत्-भिद् = (उत्) ऊपर उठने के लिए (भिद्) शत्रु का भेदन करनेवाले; शत्रु के मोर्चे को तोडकर बाहर आनेवाले, ऊपर उठनेवाले।

(३०६) वर्यः । न । ये । श्रेणीः । पप्तुः । ओजसा । अन्तान् । दिवः । बृहतः । सानुनः । परि ।
अश्वासः । एषाम् । उभये । यथा । विदुः । प्र । पर्वतस्य । नभनून् । अचुच्यवुः ॥७॥
(३०७) मिमातु । द्यौः । अदितिः । वीतये । नः । सम् । दानुऽचित्राः । उषसः । यतन्ताम् ।
आ । अचुच्यवुः । दिव्यम् । कोशम् । एते । ऋषे । रुद्रस्य । मरुतः । गृणानाः ॥८

(ऋ० ५।६१।१-४; ११-१६)

(३०८) के । स्थ । नरः । श्रेष्ठऽतमाः । ये । एकःऽएकः । आऽयय ।
परमस्याः । पराऽवतः ॥१॥

अन्वयः— ३०६ ये वयः न, श्रेणीः ओजसा दिवः अन्तान् बृहतः सानुनः परि पप्तुः, यथा उभये विदुः एषां अश्वासः पर्वतस्य नभनून् प्र अचुच्यवुः ।

३०७ द्यौः अदितिः नः वीतये मिमातु, दानु-चित्राः उषसः सं यतन्तां, (हे) ऋषे ! गृणानाः एते रुद्रस्य मरुतः दिव्यं कोशं आ अचुच्यवुः ।

३०८ (हे) श्रेष्ठ-तमाः नरः ! के स्थ ? ये एकः-एकः परमस्याः परावतः आयय ।

अर्थ— ३०६ (ये) जो वीर (वयः न) पंछियों की तरह (श्रेणीः) पंक्तिरूपमें समूह में (ओजसा) वेगसे (दिवः अन्तान्) आकाश के दूसरे छोरतक तथा (बृहतः) बडे बडे (सानुनः) पर्वतों के शिखर पर भी (परि पप्तुः) चारों ओरसे पहुँचते हैं । (यथा) जैसे एक दूसरेका बल (उभये विदुः) परस्पर जान लेते हैं, वैसे ही ये कर्म करते हैं । (एषां अश्वासः) इनके घोडे (पर्वतस्य नभनून्) पहाड के टुकडे करके (प्र अचुच्यवुः) नीचे गिरा देते हैं ।

३०७ (द्यौः) द्युलोक तथा (अदितिः) भूमि (नः वीतये) हमारे सुखसमाधानके लिए (मिमातु) तैयारी कर लें, (दानु-चित्राः) दानद्वारा आश्चर्यचकित कर डालनेवाले (उषसः) उषःकाल हमारे लिए (सं यतन्तां) भली भाँति प्रयत्न करें । हे (ऋषे!) ऋषिवर! (गृणानाः) प्रशंसित हुए (एते) ये (रुद्रस्य मरुतः) वीरभद्र के वीर मरुत् (दिव्यं कोशं) दिव्य कोश या भाण्डार को (आ अचुच्यवुः) सभी ओर से उण्डेल देते हैं ।

३०८ हे (श्रेष्ठ-तमाः नरः!) अति उच्च कोटि के तथा नेता के पदपर अधिष्ठित वीरो ! तुम (के स्थ) कौन हो ? (ये) जो तुम (एकः-एकः) अकेले अकेले (परमस्याः परावतः) अति सुदूर देश से यहाँ पर (आयय) आते हो ।

भावार्थ- ३०६ ये वीर पंक्ति में रहकर समान रूप से पग उठाते एवं धरते हुए चलने लगते हैं और इनकी वेगवान गति के कारण दर्शक यों समझने लगता है कि, मानों ये आकाश के अंतिम छोर तक इसी भाँति जाते रहेंगे। पर्वतश्रेणियों पर भी ठीक इसी प्रकार ये चढ जाते हैं । एक दूसरे की शक्ति से परिचित वीर जैसे लडते हों, वैसे ही ये जूझते हैं और इनके घोडे पहाडों तक को चकनाचूर कर आगे निकल जाते हैं । ३०७ द्युलोक तथा भूलोक हमारे सुख को बढावें । उषःकाल का प्रारम्भ होते ही देन देने का प्रारम्भ हो जाय । ये सराहनीय वीर विजय पाकर धनका बृहदाकार खजाना ले आयँ और उस द्रविणभाण्डार को हमारे सामने उण्डेल दें । ३०८ अत्यन्त सुदूरवर्ती प्रदेशमें से बिना थकावट के आनेवाले वीर भला तुम कौन हो ?

टिप्पणी-- [३०६] (१) नभनु = (नभ् = कष्ट देना, तोडमरोड देना) क्षति पहुँचानेवाला, नदी, टूटाफूटा विभाग । [३०७] (१) दिव्य = स्वर्गीय, आश्चर्यकारक । (२) च्यु = (गतौ) बटोरना, गिर जाना । (३) मा (माने) = मापना, समाना, तैयार करना, बाँधना, दर्शाना । (४) वीतिः = जाना, उत्पन्न करना, उत्पत्ति, उपभोग, खाना, तेज ।

(३०९) क्व॑ । वः॒ । अश्वा॑ः । क्व॑ । अ॒भीश॑वः । कथम् । शे॒क॒ । क॒था । य॒य॒ ।
पृ॒ष्ठे । सदः॑ । न॒सोः । यम॑ः ॥२॥
(३१०) ज॒घने॑ । चोद॑ः ए॒षा॒म् । वि । स॒क्थानि॑ । नरः॑ । य॒मुः॒ ।
पु॒त्र॒ऽकृ॒थे । न । जन॑यः ॥३॥
(३११) परा॑ । वी॒रा॒सः॒ । इ॒त॒न॒ । मर्या॑सः । भद्र॑ऽजानयः ।
अ॒ग्नि॒ऽतप॑ः । यथा॑ । अस॑थ ॥४॥

अन्वयः— ३०९ वः अश्वाः क्व ? अभीशवः क्व ? कथं शेक ? कथा यय ? पृष्ठे सदः नसोः यमः ।
३१० एषां जघने चोदः, पुत्र-कृथे जनयः न नरः सक्थानि वि यमुः ।
३११ हे वीरासः मर्यासः भद्र-जानयः अग्नि-तपः ! यथा असथ परा इतन ।

अर्थ- ३०९ (वः अश्वाः क्व ?) तुम्हारे घोडे किधर हैं ? (अभीशवः क्व ?) उनके लगाम कहाँ हैं ? (कथं शेक ?) किसके आधार से या कैसे तुम सामर्थ्यवान हुए हो ? और तुम (कथा यय ?) भला कैसे जाते हो ? उनकी (पृष्ठे सदः) पीठपर की काठी, जीन [पर्याण] एवं (नसोः यमः) नथुनेमें डाली जानेवाली रस्सी कहाँ धर दिये हैं ?

३१० जब (एषां) इन घोडों की (जघने) जाँघों पर (चोदः) चाबुक लगता है, तब (पुत्र-कृथे) पुत्रप्रसूति के समय (जनयः न) स्त्रियाँ जैसे गोदोंको तानती हैं, वैसे ही वे (नरः) नेता वीर सक्थानि) उन घोडों की जाँघों का (वि यमुः) विशेष ढंगसे नियमन करते हैं।

३११ हे (वीरासः) वीर, (मर्यासः) जनता के हितकर्ता, (भद्र-जानयः) उत्तम जन्म पाये हुए और (अग्नि-तपः!) अग्नितुल्य तेजस्वी वीरो ! (यथा असथ) जैसे तुम अब हो, वैसे ही (परा इतन) इधर आओ।

भावार्थ- ३०९ इन वीरों के घोडे लगाम, पर्याण, अन्य वस्तुएँ कहाँ हैं और कैसी हैं ?

३१० घुडसवार होने पर ये वीर जब अश्वजंघापर कोडे लगाना शुरु करते हैं, तब वे घोडे अपनी जंघाओंको विस्तृत करने लगते हैं, पर ये वीर सैनिक उन्हें नियमित करते अर्थात् रोक देते हैं। (अपनी जंघाओंसे घोडोंको दृढ धरते हैं, हिलने नहीं देते हैं।)

३११ वीर हमारे निकट आ जायँ।

टिप्पणी- [३०९] (१) सदस् = घर, आसन, बैठ जाने का साधन, जीन । "नसोः यमः ? = क्या घोडोंके नथुनों में रस्सी डालते थे ? आजकल घोडे के मुँह में लौहमय शलाका डाल कर उसे लगाम लगा देते हैं। इस मंत्र में 'अश्वाः' पद पाया जाता है और अन्त में (नसोः यमः) 'नथुनेमें रस्सी' रखने का निर्देश है। यह प्रयोग विचार करनेयोग्य है।

[३१०] (१) नरः सक्थानि वि यमुः = वीर घोडे पर अचल, अटल, अडिग हो बैठे, ताकि वह घोडे पर से न गिर जाय।

(३१२) ये । ई॒म् । वह॑न्ते । आ॒शुऽभिः॑ । पिब॑न्तः । म॒दि॒रम् । मधु॑ ।
अत्र॑ । श्रवां॑सि । द॒धि॒रे ॥११॥

(३१३) येषा॑म् । श्रि॒या । अधि॑ । रोद॑सी इति॑ । वि॒ऽभ्राज॑न्ते । रथे॑षु । आ ।
दि॒वि । रु॒क्मःऽइ॑व । उ॒परि॑ ॥१२॥

(३१४) यु॒वा॑ । सः । मारु॑तः । ग॒णः । त्वे॒षऽर॑थः । अने॑द्यः ।
शु॒भ॒म्ऽयावा॑ । अप्र॑तिऽस्कुतः ॥१३॥

अन्वयः— ३१२ ये मदिरं मधु पिबन्तः आशुभिः ईं वहन्ते अत्र श्रवांसि दधिरे ।
३१३ येषां श्रिया रोदसी अधि, उपरि दिवि रुक्मःइव, रथेषु आ विभ्राजन्ते ।
३१४ सः मारुतः गणः युवा त्वेष-रथः अ-नेद्यः शुभं- यावा अ-प्रति-स्कुतः ।

अर्थ- ३१२ (ये) जो (मदिरं मधु) मिठासभरा सोमरस (पिबन्तः) पीनेवाले वीर (आशुभिः) वेगवान घोडों के साथ (ईं वहन्ते) शीघ्र चले जाते हैं, वे (अत्र) यहाँ पर (श्रवांसि दधिरे) बहुतसा धन दे देते हैं।

३१३ (येषां श्रिया) जिन की शोभासे (रोदसी) द्युलोक तथा भूलोक (अधि) अधिष्ठित -सुशोभित-हुए हैं, वे वीर (उपरि दिवि) ऊपर आकाश में (रुक्मःइव) प्रकाशमान सूर्य के तुल्य (रथेषु आ विभ्राजन्ते) रथों में द्योतमान होते हैं।

३१४ (सः) वह (मारुतः गणः) वीर मरुतों का संघ (युवा) तरुण, (त्वेष-रथः) तेजस्वी रथ में बैठनेवाला, (अ-नेद्यः) अनिंदनीय, (शुभं-यावा) शुभ कार्य के लिए ही हलचलें करनेवाला और (अ-प्रति-स्कुतः) अपराजित- सदैव विजयी है।

भावार्थ- ३१२ अच्छे अन्नपान का सेवन करना चाहिए और वेगवान वाहनों द्वारा शत्रुसेनापर आक्रमण करना उचित है, क्योंकि ऐसा करनेसे उच्च कोटि का धन मिलता है।

३१३ रथों में बैठकर वीर सैनिक जब कार्य करने लगते हैं, तब वे अतीव सुहाने लगते हैं।

३१४ वीरों का समुदाय सत्कर्म करनेमें निरत, निष्पाप, हमेशा विजयी तथा नवयुवकवत् उमंग एवं उत्साह से परिपूर्ण रहता है।

टिप्पणी- [३१२] (१) श्रवस् = सुनना, कीर्ति, धन, मंत्र, प्रशंसनीय कृत्य। यहाँ पर 'श्रवांसि' बहुवचनान्त पद है, इसलिए 'यश' अर्थ लेने की अपेक्षा 'धन' अर्थ करना, ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि यश का अनेक होनेका संभव नहीं, लेकिन धन विविध प्रकार के हुआ करते हैं, अतः बहुवचनी प्रयोग किये जानेपर 'श्रवांसि' का अर्थ धनसमूह करनाही ठीक है।

[३१३] रुक्मः = सुवर्णका टुकडा, मुहर, प्रकाशमान। दिवि रुक्मः = आकाश में प्रकाशमान (सूर्य।)

[३१४] स्कु = कूदना, उठा लेना, व्याप्त होना। प्रतिष्कु = ढकना (पराभूत करना) अ-प्रतिष्कुतः = विजयी, जो कभी न हारा हुआ हो।

(३१५) कः । वेद । नूनम् । एषाम् । यत्र । मदन्ति । धूतयः ।
ऋतऽजाताः । अरेपसः ॥१४॥
(३१६) यूयम् । मर्तम् । विपन्यवः । प्रऽनेतारः । इत्था । धिया ।
श्रोतारः । यामऽहूतिषु ॥१५॥
(३१७) ते । नः । वसूनि । काम्या । पुरुऽचन्द्राः । रिशादसः ।
आ । यज्ञियासः । ववृत्तन ॥१६॥

अन्वयः— ३१५ धूतयः ऋत-जाताः अ-रेपसः यत्र मदन्ति एषां कः नूनं वेद ?
३१६ (हे) वि-पन्यवः ! यूयं इत्था मर्तं प्र-नेतारः याम-हूतिषु धिया श्रोतारः ;
३१७ पुरु-चन्द्राः रिश-अदसः यज्ञियासः ते नः काम्या वसूनि आ ववृत्तन ।

अर्थ- ३१५ (धूतयः) शत्रुओं को हिलानेवाले, (ऋत-जाताः) सत्य के लिए जन्मे हुए और (अ-रेपसः) निष्पाप ये वीर (यत्र मदन्ति) जहाँ आनन्द का उपभोग लेते हैं, वह (एषां) इनका ठौर (कः नूनं वेद) सचमुच कौन भला जानता है ?

३१६ हे (वि-पन्यवः!) प्रशंसनीय वीरो ! (यूयं) तुम (इत्था) इस प्रकारसे (मर्तं प्र-नेतारः) मानवों को उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले हो और (याम-हूतिषु) शत्रुदल पर चढाई करते समय पुकारने पर तुम (धिया) मनःपूर्वक बडी लगनसे उस प्रार्थना को (श्रोतारः) सुन लेते हो ।

३१७ हे (पुरु-चन्द्राः) अत्यन्त आह्लाददायक, (रिश-अदसः) शत्रुदल के विनाशकर्ता (यज्ञियासः !) तथा पूज्य वीरो ! (ते) ऐसे प्रसिद्ध तुम (नः काम्या) हमारे अभीष्ट (वसूनि) धन हमें (आ ववृत्तन) वापिस लौटा दो ।

भावार्थ- ३१५ कौनसा स्थान वीरों को आनन्द देता है ?

३१६ शत्रु पर चढाई करते वक्त मददके लिए बुलाया जाय, तो ये वीर सैनिक तुरन्त उस प्रार्थना पर ध्यान देते हैं, सहायार्थी की पुकार सुन लेते हैं ।

३१७ वीरों की सहायता से हमें सभी प्रकारके धन मिलें । [यदि शत्रुने उन्हें छीन लिया हो, तो वह सारी सम्पदा हमें पुनः वापस मिले ।]

टिप्पणी- [३१५] (१) ऋत-जात = सत्य के लिए पैदा हुआ, सीधा कार्य करने के लिए ही जो अपने जीवन का बलिदान देता है । (२) रेपस् = हीन, टेढा, क्रूर, कलंक, पाप । अ-रेपस् = ऊँचा, सरल, शान्त, निष्कलङ्क, पापरहित ।

[३१६] (१) यामः = दुश्मनों पर किया जानेवाला आक्रमण, हमला । (२) हूतिः = पुकार, बुलावा । याम-हूतिः = शत्रुओं पर हमले चढाते समय की हुई पुकार ।

आत्रिपुत्र एवयामरुत् ऋषि (ऋ० ५।८७।१-९)

(३१८) प्र । वः । महे । मतयः । यन्तु । विष्णवे । मरुत्वते । गिरिऽजाः । एवयामरुत् ।
प्र । शर्धाय । प्रऽयज्यवे । सुऽखादये । तवसे । भन्दत्ऽइष्टये । धुनिऽव्रताय । शवसे ॥१॥
(३१९) प्र । ये । जाताः । महिना । ये । च । नु । स्वयम् । प्र । विद्मना । ब्रुवते । एवयामरुत् ।
क्रत्वा । तत् । वः । मरुतः । न । आऽधृषे । शवः । दाना । मह्ना । तत् । एषाम् ।
अधृष्टासः । न । अद्रयः ॥२॥

अन्वयः- ३१८ एवयामरुत् गिरि-जाः मतयः वः मरुत्-वते महे विष्णवे प्र यन्तु, प्र-यज्यवे सु-खादये तवसे भन्दत्-इष्टये धुनि-व्रताय शवसे शर्धाय प्र।

३१९ ये महिना प्र जाताः, ये च नु स्वयं विद्मना प्र, एवयामरुत् ब्रुवते, (हे) मरुतः ! वः तत् शवः क्रत्वा न आ-धृषे, एषां तत् दाना मह्ना, अद्रयः न, अ-धृष्टासः ।

अर्थ- ३१८ (एवयामरुत्) मरुतों के अनुसरण करनेवाले ऋषि की (गिरि-जाः) वाणी से निकले हुए (मतयः) विचार एवं काव्यमय श्लोक (वः) तुम्हारे (मरुत्-वते) मरुतों से युक्त (महे विष्णवे) बडे व्यापक देव के पास (प्र यन्तु) पहुँचें । तुम्हारे (प्र-यज्यवे) अत्यन्त पूजनीय, (सु खादये) अच्छे कडे, वलय धारण करनेहारे, (तवसे) बलवान, (भन्दत्-इष्टये) अच्छी आकांक्षा करनेवाले, (धुनि-व्रताय) शत्रु को हटा देने का व्रत लेनेहारे (शवसे) वेगपूर्वक जानेवाले (शर्धाय) बल के लिए ही तुम्हारे विचार एवं काव्यप्रवाह (प्र यन्तु) प्रवर्तित हो चलें ।

३१९ (ये) जो अपनी निजी (महिना) महत्त्व से (प्र जाताः) प्रकट हुए (ये च) और जो (नु) सचमुच (स्वयं विद्मना) अपनी निजी विद्या से (प्र) प्रसिद्ध हुए, उन वीरों का (एवयामरुत् ब्रुवत) एवयामरुत् ऋषि वर्णन करता है। हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः तत् शवः) तुम्हारा वह बल (क्रत्वा) कृति से युक्त होने के कारण (न आ-धृषे) पराभूत नहीं हो सकता है, (एषां तत्) ऐसे तुम वीरों का वह बल (दाना) दानसे (मह्ना) तथा महत्त्व से युक्त है । तुम तो (अद्रयः न) पर्वतों के समान (अ-धृष्टासः) किसी से परास्त न होनेवाले हो ।

भावार्थ- ३१८ ऋषि सर्वव्यापक ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करते हैं, उसके स्तोत्रों का गायन करते हैं और उन की प्रतिभा-शक्ति परमात्मा की ओर मुड जाती है । उसी प्रकार, बल बढा कर शत्रु को मटियामेट करने के गुरुतर कार्य की ओर भी उनकी मनोवृत्ति झुक जाय ।

३१९ तुम्हारी विद्या एवं महत्ता असाधारण कोटिकी है। तुम्हारा बल इतना विशाल है कि, कोई तुम्हें पद-दलित तथा पराभूत या पराहत नहीं कर सकता है । तुम्हारा दान भी बहुत बडा है और जैसे पर्वत अपनी जगह स्थिर रहा करता है, वैसे ही तुम जिधर कहीं रहते हो, उधर भले ही दुश्मन भीषण हमले कर डाले, लेकिन तुम अपने स्थान पर अचल, अटल तथा अडिग रह कर उसे हटा देते हो।

टिप्पणी- [३१८] (१) भन्द् = सुदैवी होना, उत्तम होना, आनन्दित बनना, सम्मान देना, पूजा करना । (२) इष्टिः = इच्छा- आकांक्षा, विनंति, इष्ट वस्तु यज्ञ । (३) एवया = संरक्षण करना, मार्ग परसे जाना, निश्चित राह परसे चलना । एवया- मरुत् = मरुतों के पथ से जानेहारा, मरुतों का अनुगामी, ऋषि (सा० भा०) ।

[३१९] (१) क्रतु = यज्ञ बुद्धि, सयानापन, शक्ति, निश्चय, आयोजना, इच्छा । (२) शवस् = बल, शत्रु का नाश करने में समर्थ बल । (३) अधृष्ट = अकम्पित ।

(३२०) प्र । ये । दिवः । बृहतः । शृण्विरे । गिरा । सुऽशुक्वानः । सुऽभ्वः । एवयामरुत् ।
न । येषाम् । इरी । सधऽस्थे । ईष्टे । आ । अग्नयः । न । स्वऽविद्युतः । प्र ।
स्पन्द्रासः । धुनीनाम् ॥३॥

(३२१) सः । चक्रमे । महतः । निः । उरुऽक्रमः । समानस्मात् । सदसः । एवयामरुत् ।
यदा । अयुक्त । त्मना । स्वात् । अधि । स्नुऽभिः । विऽस्पर्धसः । विऽमहसः ।
जिगाति । शेऽवृधः । नृऽभिः ॥४॥

अन्वयः— ३२० सु-शुक्वानः सु-भ्वः ये बृहतः दिवः प्र शृण्विरे, एवयामरुत् गिरा, येषां सध-स्थे इरी न आ ईष्टे, अग्नयः न, स्व-विद्युतः, धुनीनां प्र स्पन्द्रासः।

३२१ यदा एवयामरुत् स्नुभिः नृभिः त्मना स्वात् अधि अयुक्त, (तदा) उरु-क्रमः सः समानस्मात् महतः सदसः निः चक्रमे, वि-महसः शे-वृधः वि-स्पर्धसः जिगाति।

अर्थ- ३२० (सु-शुक्वानः) अत्यन्त तेजस्वी तथा (सु-भ्वः) उत्तम ढंग से रहनेहारे (ये) जो वीर (बृहतः) विशाल (दिवः) अन्तरिक्ष में से जाते समय जनता की की हुई स्तुतियाँ (प्र शृण्विरे) सुनते हैं, उनकी ही (एवयामरुत् गिरा) एवयामरुत् ऋषि अपनी वाणीद्वारा स्तुति करता है। (येषां सध-स्थे) जिनके प्रदेश में उनके (इरी) प्रेरक की हैसियत से उनपर (न आ ईष्टे) कोई भी प्रभुत्व नहीं प्रस्थापित करता है; वे (अग्नयः न) अग्नि के तुल्य (स्व-विद्युतः) स्वयंप्रकाशी वीर (धुनीनां) गर्जना करनेहारे शत्रुओं को भी (प्र स्पन्द्रासः) अत्यन्त विकम्पित कर डालनेवाले हैं।

३२१ (यदा एवयामरुत्) जब एवयामरुत् ऋषि अपने (स्नुभिः नृभिः) वेगवान लोगों के साथ (त्मना) स्वयं ही (स्वात्) अपने निवासस्थान के समीप (अधि अयुक्त) अश्व जोतकर तैयार हुआ, तब (उरु-क्रमः सः) बड़ा भारी आक्रमण करनेहारा वह मरुतों का संघ (समानस्मात्) सब के लिए समान ऐसे (सदसः) अपने निवासस्थान से (निः चक्रमे) बाहर निकल पड़ा और (वि-महसः) विलक्षण तेजस्वी एवं (शे-वृधः) सुख बढानेवाले वे वीर (वि-स्पर्धसः) बिना किसी स्पर्धा से तुरन्त उधर (जिगाति) आ पहुँचे।

भावार्थ- ३२० ये वीर तेजस्वी तथा अच्छा आचरण रखनेवाले हैं। ये स्वयं-शासित हैं, इन पर अन्य किसी की प्रभुता नहीं प्रस्थापित है। ये स्वयंप्रकाशी होते हुए गरजनेवाले बड़े बड़े वीर दुश्मनों को भी भयभीत कर देते हैं, जिस से वे काँपने लगते हैं।

३२१ जब ऋषि इन वीरों का सुस्वागत करने के लिए तैयार हुआ, तब ये वीर उस अपने निवासस्थल से, जो सब के लिए समान था, निकलकर स्वयं ही उस के समीप जा पहुँचे। ये वीर बड़े ही तेजस्वी एवं जनता का सुख बढानेवाले थे।

टिप्पणी- [३२०] (१) धुनि (ध्वन् शब्दे) = गरजनेवाला, दहाड मारनेवाला, (धूञ् कम्पने) हिलानेवाला। (२) सु-भू = बलवान, सर्वोत्कृष्ट, अच्छे ढंग से रहनेवाले। (३) शुक्वन् = (शुच् = प्रकाशना) = प्रकाशमान, तेजस्वी। 'येषां इरी न ईष्टे' = जिन का दूसरा कोई भी प्रेरक नहीं होता है, अर्थात् जो स्वयं-शासक हैं। (मंत्र ६८, २९२, ३०८, देखिए।)

[३२१] (१) समानं सदः = सब के लिए समान रूप से खुला हुआ निवासस्थान, सैनिकों के बैरक (Barracks), (मंत्र ११७, ३४५, ४४७ देखिए।) (२) वि-स्पर्धस् = विशेष स्पर्धा करनेहारे, स्पर्धारहित। (३) शे-वृधः = (शं=सुख, शस्त्र) = सुख में बढे हुए, शस्त्रों में बढे हुए- निष्णात, पारंगत। (शेव = सुख, संपत्ति, ऊँचाई+वृधः) सुख-संपदा बढानेहारे।

(३२२) स्वनः । न । वः । अमऽवान् । रेजयत् । वृषा । त्वेषः । ययिः । तविषः । एवयामरुत् । येन । सहन्तः । ऋञ्जत । स्वऽरोचिषः । स्थाःऽरश्मानः । हिरण्ययाः । सुऽआयुधासः । इष्मिणः ॥५॥

(३२३) अपारः । वः । महिमा । वृद्धऽशवसः । त्वेषम् । शवः । अवतु । एवयामरुत् । स्थातारः । हि । प्रऽसितौ । संऽदृशि । स्थन । ते । नः । उरुष्यत । निदः । शुशुक्वांसः । न । अग्नयः ॥६॥

अन्वयः— ३२२ वः अम-वान् वृषा त्वेषः ययिः तविषः स्वनः एवयामरुत् न रेजयत्, येन सहन्तः स्व-रोचिषः स्थाः-रश्मानः हिरण्ययाः सु-आयुधासः इष्मिणः ऋञ्जत ।

३२३ (हे) वृद्ध-शवसः ! वः महिमा अ-पारः, त्वेषं शवः एवयामरुत् अवतु, प्रसितौ हि संदृशि स्थातारः स्थन, अग्नयः न, शुशुक्वांसः ते नः निदः उरुष्यत ।

अर्थ- ३२२ (वः अम-वान्) तुम्हारा बलवान (वृषा) समर्थ, (त्वेषः) तेजस्वी, (ययिः) वेग से जानेहारा एवं (तविषः स्वनः) प्रभावशाली शब्द (एवयामरुत् न रेजयत्) एवयामरुत् ऋषि को कंपित या भयभीत न करे । (येन) जिससे (सहन्तः) शत्रुओंका प्रतिकार करनेहारे (स्व-रोचिषः) अपने तेजसे युक्त, (स्थाः-रश्मानः) स्थायी तेज धारण करनेहारे, (हिरण्ययाः) सुवर्णालंकार पहननेवाले, (सु-आयुधासः) अच्छे हथियार रखनेवाले तथा (इष्मिणः) अन्न का संग्रह समीप रखनेवाले तुम वीर प्रगति के लिए (ऋञ्जत) प्रयत्न करते हो ।

३२३ हे (वृद्ध-शवसः !) प्रबल सामर्थ्यवान वीरो ! (वः महिमा) तुम्हारा बडप्पन सचमुच (अ-पारः) असीम एवं अमर्याद है । तुम्हारा (त्वेषं शवः) तेजस्वी बल इस (एवयामरुत् अवतु) एवयामरुत् ऋषि का रक्षण करे । शत्रु का (प्रसितौ) आक्रमण होने पर भी (संदृशि) दृष्टिपथ में ही तुम (स्थातारः स्थन) स्थिर रहते हो । (अग्नयः न) अग्नितुल्य (शुशुक्वांसः) तेजस्वी (ते) ऐसे तुम (नः) हमें (निदः उरुष्यत) निन्दक से बचाओ ।

भावार्थ- ३२२ तुम्हारी ध्वनि में सामर्थ्य है, पर यह ऋषि उस गम्भीर दहाड से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि इस के साथ तुम अच्छे शस्त्र लेकर सब की उन्नति के लिए सचेष्ट रहा करते हो ।

३२३ इन वीरों की महिमा असीम है और उन के सामर्थ्य से ऋषियों का रक्षण होता है । दुश्मनों की चढाई हो, तो वे समीप ही रहते हैं, इसलिए शीघ्र आकर जनताकी मदद करते हैं । हमारी इच्छा है कि, वे हमें निन्दकों से बचायें ।

टिप्पणी- [३२२] (१) अमः = बल, बोझ, भय, धाक, अनुयायी । (२) ऋञ्ज् = वेग से दौडना, घुसना, प्रयत्न करना, शोभा लाना । (३) सह् = सहन करना, धारण करना, पराभव करना, प्रतिकार करना ।

[३२३] (१) प्रसिति = जाला, बंधन, हमला, शक्ति, सत्ता । (२) उरुष्यु = रक्षा करने की इच्छा करनेहारा । (उरुष्यति) प्रतिकार करना, रक्षा करना ।

(३२४) ते । रुद्रासः । सुऽमखाः । अग्नयः । यथा । तुविऽद्युम्नाः । अवन्तु । एवयाऽमरुत् ।
दीर्घम् । पृथु । पप्रथे । सद्म । पार्थिवम् । येषाम् । अज्मेषु । आ । महः । शर्धांसि ।
अद्भुतऽएनसाम् ॥७॥

(३२५) अद्वेषः । नः । मरुतः । गातुम् । आ । इतन । श्रोत । हवम् । जरितुः । एवयाऽमरुत् ।
विष्णोः । महः । सऽमन्यवः । युयोतन । स्मत् । रथ्यः । न । दंसना । अप ।
द्वेषांसि । सनुतरिति ॥८॥

(३२६) गन्त । नः । यज्ञम् । यज्ञियाः । सुऽशमि । श्रोत । हवम् । अरक्षः । एवयाऽमरुत् ।
ज्येष्ठासः । न । पर्वतासः । विऽओमनि । यूयम् । तस्य । प्रऽचेतसः । स्यात । दुःऽधर्तवः । निदः ॥९॥

अन्वयः— ३२४ सु-मखाः, अग्नयः यथा तुवि-द्युम्नाः, ते रुद्रासः एवयामरुत् अवन्तु, दीर्घं पृथु पार्थिवं सद्म पप्रथे, अद्भुत-एनसां येषां अज्मेषु महः शर्धांसि आ। ३२५ (हे) मरुतः ! अ-द्वेषः गातुं नः आ इतन, जरितुः एवयामरुत् हवं श्रोत, (हे) स-मन्यवः ! विष्णोः महः युयोतन, रथ्यः न स्मत्, दंसना सनुतः द्वेषांसि अप। ३२६ (हे) यज्ञियाः ! सु-शमि नः यज्ञं गन्त, अ-रक्षः एवयामरुत् हवं श्रोत, वि-ओमनि, पर्वतासः न, ज्येष्ठासः, प्र-चेतसः यूयं तस्य निदः दुर्-धर्तवः स्यात।

अर्थ- ३२४ (सु-मखाः) उच्च कोटि के यज्ञ करनेहारे, (अग्नयः यथा) अग्नि के तुल्य (तुवि-द्युम्नाः) अति तेजस्वी (ते रुद्रासः) वे शत्रु को रुलानेवाले वीर (एवयामरुत् अवन्तु) एवयामरुत् ऋषि का संरक्षण करें। (दीर्घं) विस्तीर्ण तथा (पृथु) भव्य (पार्थिवं सद्म) भूमंडल पर का निवासस्थान उन्हीं के कारण (पप्रथे) विख्यात हो चुका है। (अद्भुत-एनसां) पापरहित ऐसे (येषां) जिन वीरों के (अज्मेषु) आक्रमणों के समय (महः शर्धांसि) बडे बडे बल उनके साथ (आ) आते हैं।

३२५ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (अ-द्वेषः) द्वेष न करनेहारे तुम वीरों के (गातुं) काव्य का गायन करने के समय तुम (नः आ इतन) हमारे समीप आओ। (जरितुः एवयामरुत्) स्तुति करनेवाले, एवयामरुत् ऋषि की यह प्रार्थना (श्रोत) सुन लो। हे (स-मन्यवः !) उत्साही वीरो ! तुम (विष्णोः महः) व्यापक देव की शक्तियों से (युयोतन) एकरूप बनो। तुम (रथ्यः न) रथमें जोतनेयोग्य घोडे के समान (स्मत्) प्रशंसा के योग्य हो, इसलिए (दंसना) अपने पराक्रम से, कर्म से (सनुतः द्वेषांसि) गुप्त शत्रुओं को (अप) दूर हटाओ। ३२६ हे (यज्ञियाः !) पूज्य वीरो ! (सु-शमि) अच्छे शान्त ढंगसे (नः यज्ञं) हमारे यज्ञकी ओर (गन्त) आओ। (अ-रक्षः) अरक्षित ऐसे (एवयामरुत्) एवयामरुत् ऋषिकी (हवं) यह प्रार्थना (श्रोत) सुनो। (वि-ओमनि) विशेष रक्षण के कार्य में तुम (पर्वतासः न) पहाडों के तुल्य (ज्येष्ठासः) श्रेष्ठ हो। (प्र-चेतसः) उत्कृष्ट ढंग से विचार करनेहारे तुम (तस्य निदः) उस निन्दक के लिए (दुर्-धर्तवः) दुर्धर्ष-अजिंक्य (स्यात) बनो।

भावार्थ- ३२४ ये वीर अच्छे कर्म करनेहारे हैं। ये ऋषियोंका संरक्षण करते हैं। इन्हींके कारण पृथ्वीपर विद्यमान स्थान विख्यात हुआ है। ये पापरहित वीर जब शत्रु पर हमले करते हैं, तब इनकी अनेक शक्तियाँ व्यक्त हुआ करती हैं। ३२५ हम वीरोंके काव्यका गायन करते हैं, उसे वे आकर सुन लें। परमात्माकी शक्तिसे युक्त होकर अपने अपने अनवरत उद्यम से सभी शत्रुओं को दूर करें। ३२६ वीर यज्ञमें आ जायँ और काव्यगायन सुन लें। रक्षा करते समय स्थिर रूप से प्रजाओं की रक्षा करें। विचारपूर्वक निन्दकों को हटाकर शत्रुसेना के लिए स्वयं अजिंक्य बनने की चेष्टा करें।

टिप्पणी [३२४] (१) मखः = पूज्य, चपल, दर्शनीय, आनन्दी। (२) अद्भुत = (न भूतं अभूतं) न हुआ। [३२५] (१) स्मत् = प्रशस्त, ठीक। (२) सनुतः = गुप्त, दूर, एक छोरपर। [३२६] (१) शम् = कल्याण,

बृहस्पतिपुत्र शंयुऋषि (तृणपाणि) (ऋ० ६।४८।११-१५;२०-२१)

(३२७) आ । सखायः । सबःऽदुघाम् । धेनुम् । अजध्वम् । उप । नव्यसा । वचः ।
सृजध्वम् । अनपऽस्फुराम् ॥११॥

(३२८) या । शर्धाय । मारुताय । स्वऽभानवे । श्रवः । अमृत्यु । धुक्षत ।
या । मृळीके । मरुताम् । तुराणाम् । या । सुम्नैः । एवऽयावरी ॥१२॥

(३२९) भरत्ऽवाजाय । अव । धुक्षत । द्विता ।
धेनुम् । च । विश्वऽदोहसम् । इषम् । च । विश्वऽभोजसम् ॥१३॥

अन्वयः— ३२७ (हे) सखायः ! नव्यसा वचः सबर्-दुघां धेनुं उप आ अजध्वं अन्-अप-स्फुरां सृजध्वं ।

३२८ या स्व-भानवे मारुताय शर्धाय अ-मृत्यु श्रवः धुक्षत या तुराणां मरुतां मृळीके, या सुम्नैः एवया-वरी ।

३२९ भरत्-वाजाय द्विता अव धुक्षत, विश्व-दोहसं च धेनुं विश्व-भोजसं इषं च ।

अर्थ- ३२७.हे (सखायः !) मित्रो ! (नव्यसा वचः) नया काव्यगायन सुनते हुए (सबर्-दुघां) विपुल दूध देनेहारी (धेनुं उप) गाय के निकट (आ अजध्वं) आओ और उसे (अन्-अप-स्फुरां) स्थिर गौ को (सृजध्वं) बंधन में से छोड दो।

३२८ (या) जो (स्व-भानवे) स्वयंप्रकाशी (मारुताय शर्धाय) वीर मरुतों के बल के लिए दुग्धरूप (अ-मृत्यु) कभी नष्ट न होनेवाली (श्रवः) सम्पत्ति का (धुक्षत) उत्पादन करती है, (या) जो (तुराणां मरुतां) वेगवान वीर मरुतों को (मृळीके) आनन्द देने के लिए तत्पर दीख पडती है, (या) जो (सुम्नैः) अनेक सुखों के साथ (एवया-वरी) आकर इच्छा का पूर्ति करती है।

३२९ हे वीरो ! (भरत्-वाजाय) ऋषि भरद्वाज को (द्विता) दो दान (अव धुक्षत)दे दो; एक तो (विश्व दोहसं धेनुं) सब के लिए दूध देनेहारी गाय और दूसरा (विश्व भोजसं) सब के भरणपोषण के लिए पर्याप्त (इषं च) अन्न।

भावार्थ- ३२७ नये काव्य का गायन करते हुए सहर्ष गौ-शाला में जाकर यथेष्ट दूध देनेहारी तथा दुहते समय निश्चल खडी रहनेवाली गौ के समीप चलकर उसे पहले बंधन से उन्मुक्त करना चाहिए।

३२८ गौ अपने जीवनवर्धक दूध से वीरों को वृद्धिंगत करती है। वह उन्हें हर्ष देती है और कई प्रकार के सुखों को साथ लेकर उन के निकट जाकर इच्छाओं की पूर्ति करती है।

३२९ प्रचुर मात्रा में दूध देनेहारी गौ तथा यथष्ट अन्न का सृजन करनेवाली भूमि दो वस्तुएँ समीप हों, तो जीवननिर्वाह की कठिन समस्या हल होती है और आजीविका की सुविधा हुआ करती है।

सुख, वैभव, आरोग्य, शांति। (२) अ-रक्षः = (नास्ति रक्षा यस्य) अरक्षित। (३) वि+ओमन् = (विशेष) संरक्षण, कृपा, दया। [३२७] (१) स्फुर् = हिलना। अनपस्फुर् = स्थिर तथा अचल रूपसे खडे रहना। अन्-अप-स्फुरा = दूध दुहते समय न हिलते हुए शांतता से खडी होनेवाली (गाय)। [३२८] (१) एवया = रक्षा करना, वेगपूर्वक जाना, इच्छापूर्ति करना। (२) अ-मृत्यु-श्रवः = मृत्यु को दूर हटानेवाला अन्न, तुरन्त निचोडा हुआ धारोष्ण दूध। [३२९] भरत्-वाज = एक ऋषि का नाम, (जो अन्न, बल एवं सम्पत्ति की समृद्धि करता हो।)

(३३०) तम् । वः । इन्द्रम् । न । सुऽक्रतुम् । वरुणमऽइव । मायिनम् ।
अर्यमणम् । न । मन्द्रम् । सृप्रऽभोजसम् । विष्णुम् । न । स्तुषे । आऽदिशे ॥१४॥
(३३१) त्वेषम् । शर्धः । न । मारुतम् । तुविऽस्वनि । अनर्वाणम् । पूषणम् । सम् । यथा । शता ।
सम् । सहस्रा । कारिषत् । चर्षणिऽभ्यः । आ । आविः । गूळ्हा । वसु । करत् ।
सुऽवेदा । नः । वसु । करत् ॥१५॥
(३३२) वामी । वामस्य । धूतयः । प्रऽनीतिः । अस्तु । सूनृता ।
देवस्य । वा । मरुतः । मर्त्यस्य । वा । ईजानस्य । प्रऽयज्यवः ॥२०॥

अन्वयः— ३३० इन्द्रं न सु-क्रतुं, वरुणंइव मायिनं, अर्यमणं न मन्द्रं, विष्णुं न सृप्र-भोजसं वः तं आ-दिशे स्तुषे । ३३१ न त्वेषं तुवि-स्वनि अन्-अर्वाणं पूषणं मारुतं शर्धः यथा चर्षणिभ्यः शता सं सहस्रा सं आ कारिषत्, गूळ्हा वसु आविः करत्, नः वसु सु-वेदा करत् । ३३२ (हे) धूतयः प्र-यज्यवः मरुतः ! देवस्य वा ईजानस्य मर्त्यस्य वा वामस्य प्र-नीतिः वामी सूनृता अस्तु ।

अर्थ— ३३० (इन्द्रं न) इन्द्रके समान (सु-क्रतुं) अच्छे कर्म करनेहारे, (वरुणंइव) वरुण की नाईं (मायिनं) कुशल कारीगर, (अर्यमणं न) अर्यमाके तुल्य (मन्द्रं) आनन्ददायक, (विष्णुं न) विष्णु के जैसे (सृप्र-भोजसं) पर्याप्त अन्न देनेवाले, पालनपोषण करनेहारे (वः तं) तुम्हारे उन वीरोंके संघकी, हमें (आ-दिशे) मार्ग दर्शाये, इसलिए (स्तुषे) सराहना करता हूँ ।

३३१ (न) अब (त्वेषं) तेजस्वी, (तुवि-स्वनि) महान् आवाज करनेहारे, (अन्-अर्वाणं) शत्रु-रहित तथा (पूषणं) पोषण करनेवाले (मारुतं शर्धः) उन वीर मरुतोंका सांघिक बल (यथा) जैसे (चर्षणीभ्यः) मानवों को (शता सं) सौ प्रकार के धन या (सहस्रा सं) हजारों ढंग के धन एकही समय (आ कारिषत्) समीप लाये और (गूळ्हा वसु) गुप्त धनको (आविः करत्) प्रकट करे, उसी प्रकार (नः) हमें (वसु) धन (सु-विदा) सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सके, ऐसा करे ।

३३२ हे (धूतयः) शत्रुसेनाको हिला देनेवाले तथा (प्र-यज्यवः) अत्यन्त पूजनीय (मरुतः !) वीर मरुतो ! (देवस्य वा) देवकी या (ईजानस्य मर्त्यस्य वा) यज्ञ करनेवाले मानवकी (वामस्य प्र-नीतिः) धन पानेकी प्रणाली (वामी) प्रशंसनीय तथा (सूनृता) सत्यपूर्ण (अस्तु) हो जाए ।

भावार्थ— ३३० अच्छे कर्म करनेहारे, कुशल, आनन्दप्रद एवं पर्याप्त अन्नपानीय देनेवाले वीरों के काव्य का गायन हम प्रवर्तित करते हैं, क्योंकि उस के कारण सम्भव है कि, हमें उचित पथ का ज्ञान हो जाय । [इन मरुतों में इंद्र का पराक्रम, वरुण की कुशलता, अर्यमा का सुखदायित्व और विष्णु का प्रजापालकत्व समाया हुआ है ।] ३३१ अजात-शत्रु एवं महाबलवान वीर मरुत् अपने बल से सभी मानवोंको विभिन्न ढंग के धन दे चुके हैं और उसी प्रकार वह मुझे भी मिल सके, ऐसा वे करें । ३३२ मानव न्यायपूर्वक धन प्राप्त करें ।

टिप्पणी— [३३०] (१) भोजस् = खानपान, अन्न । (२) सृप्र-भोजस् = भरपेट अन्न देनेवाला । (सृप् = धीरेधीरे आना, सरकते हुए जाना, भुज् = रक्षा करना, उपभोग लेना, सत्ताप्रदर्शन करना) = शरण आये हुए लोगों की रक्षा करनेवाला, शत्रु पर सत्ता प्रस्थापित करनेवाला । (३) आ-दिश् = दर्शाना, पथप्रदर्शक होना, आज्ञा देना, लक्ष्यवेध करना । [३३१] (१) गूळ्हं वसु = भूमि में पड़ा हुआ धन, (खनिज संपत्ति ?), गुप्त धन । (२) आ+कृ (To bring near) समीप लाना, बटोरना, पूर्ण रूपसे बनाना । (३) अर्व् = (गतौ हिंसायां च) अर्वन् = गतिमान, घोड़ा, हिंसक दुश्मन । अनर्वा = अ-शत्रु, अजातशत्रु, जिस के समीप घोड़ा न हो । [मंत्र ६

(३३३) सद्यः । चित् । यस्यं । चर्कृतिः । परिं । द्याम् । देवः । न । एतिं । सूर्यः । त्वेषम् । शवः । दधिरे । नाम॑ । यज्ञियम् । मरुतः । वृत्रऽहम् । शवः । ज्येष्ठम् । वृत्रऽहम् । शवः ॥२१॥

बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज ऋषि (ऋ० ६।६६।१-११)

(३३४) वपुः । नु । तत् । चिकितुषे । चित् । अस्तु । समानम् । नाम॑ । धेनु । पत्यमानम् । मर्तेषु । अन्यत् । दोहसे । पीपाय । सकृत् । शुक्रम् । दुदुहे । पृश्निः । ऊधः ॥१॥

(३३५) ये । अग्नयः । न । शोशुचन् । इधानाः । द्विः । यत् । त्रिः । मरुतः । ववृधन्त । अरेणवः । हिरण्ययासः । एषाम् । साकम् । नृम्णैः । पौंस्येभिः । च । भूवन् ॥२॥

अन्वयः— ३३३ यस्य चर्कृतिः देवः सूर्यः न, सद्यः चित् द्यां परि एति, मरुतः त्वेषं शवः यज्ञियं नाम दधिरे, शवः वृत्र-हं वृत्र-हं शवः ज्येष्ठं। ३३४ तत् धेनु समानं नाम पत्यमानं वपुः नु चित् चिकितुषे अस्तु, अन्यत् मर्तेषु दोहसे पीपाय, शुक्रं सकृत् पृश्निः ऊधः दुदुहे। ३३५ ये मरुतः, इधानाः अग्नयः न, शोशुचन्, यत् द्विः त्रिः ववृधन्त, एषां अ-रेणवः हिरण्ययासः नृम्णैः पौंस्येभिः च साकं भूवन्।

अर्थ— ३३३ (यस्य) जिनका (चर्कृतिः) कर्म (देवः सूर्यः न) प्रकाशमान सूर्य के तुल्य (सद्यः चित्) तुरन्त (द्यां परि एति) द्युलोकमें चारों ओर फैलता है, उन (मरुतः) वीर मरुतोंने (त्वेषं शवः) तेजस्वी बल तथा (यज्ञियं नाम) पूजनीय यश (दधिरे) प्राप्त किया। उनका वह (शवः) बल (वृत्र-हं) वृत्रका वध करनेवाला था और सचमुच वह (वृत्र हं शवः ज्येष्ठं) वृत्रविनाशक बल उच्च कोटिका था।

३३४ (तत्) वह जो (धेनु समानं नाम) धेनु एकही नाम है, (पत्यमानं) उसे धारण करनेवाला (वपुः) स्वरूप (नु चित्) सचमुचही (चिकितुषे) ज्ञानी पुरुषोंको परिचित (अस्तु) रहे। (अन्यत्) उनमेंसे एक रूप (मर्तेषु) मानवोंमें-मर्त्य लोकमें (दोहसे) दूध का दोहन करने के लिए गोरूप से (पीपाय) पुष्ट होता रहता है और (शुक्रं) दूसरा तेजस्वी रूप (सकृत्) एक बारही (पृश्निः) अन्तरिक्ष के मेघरूपी (ऊधः) दुग्धाशय से (दुदुहे) दोहन किया हुआ है।

३३५ (ये मरुतः) जो मरुत्-वीर (इधानाः) प्रज्वलित (अग्नयः न) अग्निके तुल्य (शोशुचन्) द्योतमान हुआ करते हैं और (यत्) जो (द्विः त्रिः) दुगुनी या तिगुनी मात्रामें बलिष्ठ होकर (ववृधन्त) बढते है (एषां) इनके रथ (अ-रेणवः) निर्मल (हिरण्य-यासः) स्वर्णरञ्जित हैं, और वे वीर (नृम्णैः) बुद्धि तथा (पौंस्येभिः च साकं) बलके साथ (भूवन्) प्रकट होते हैं।

भावार्थ- ३३३ जैसे सूर्य का प्रकाश द्युलोक में फैलता है, उसी प्रकार मरुतोंका यश तथा बल चतुर्दिक् प्रसृत होता है और घेरनेवाले शत्रु को कुचल देता है। ३३४ दो प्रसिद्ध गौएँ 'धेनु' नाम से विख्यात हैं। एक धेनु नामवाली गोमाता मानवोंके पोषणार्थ दूध देती है और दूसरी अन्तरिक्षमें रहनेवाली (मेघरूपी माता) वर्षमें एक बार जलकी यथेष्ट वर्षा करके सबकों तृप्त करती है। ३३५ वीर सैनिक अपने बलको दुगुना, तिगुना बढाते हैं और अत्यधिक बढे हो जाते हैं। इन के रथ साफसुथरे तथा स्वर्णसे विभूषित हैं। अपनी बुद्धि तथा बलको व्यक्त करके ये वीर विख्यात बनते हैं।

टिप्पणी देखिए।] [३३२] (१) वाम = धन। (२) नीतिः = बर्ताव रखने के नियम। (३) प्र-नीतिः = मार्गदर्शकता, बर्ताव। (४) सूनृत = रमणीय, सत्यपूर्ण, मनःपूर्वक, सौम्य, विनयशील। [३३३] (१) वृत्रः = (वृणोति इति) ढकनेवाला, वेष्टनकर्ता, शत्रु, वृत्र राक्षस। (२) चर्कृतिः = कृति, कर्म, बारंबार की जानेवाली कृति, यश, कीर्ति। (३) यज्ञियं नाम=मन्त्र १ तथा १४९ टिप्पणी देखिए। [३३४] (१) वपुः = शरीर, सुन्दर, आकृति,

(३३६) रुद्रस्य। ये। मीळ्हुषः। सन्ति। पुत्राः। यान्। चो इति। नु। दाधृविः। भरध्यै।
विदे। हि। माता। महः। मही। सा। सा। इत्। पृश्निः। सुऽभ्वे। गर्भम्। आ। अधात् ॥३॥
(३३७) न। ये। ईषन्ते। जनुषः। अया। नु। अन्तरिति। सन्तः। अवद्यानि। पुनानाः।
निः। यत्। दुह्रे। शुचयः। अनु। जोषम्। अनु। श्रिया। तन्वम्। उक्षमाणाः ॥४॥
(३३८) मक्षु। न। येषु। दोहसे। चित्। अयाः। आ। नाम। धृष्णु। मारुतम्। दधानाः।
न। ये। स्तौनाः। अयासः। मह्ना। नु। चित्। सुऽदानुः। अव। यासत्। उग्रान् ॥५॥

अन्वयः— ३३६ ये मीळ्हुषः रुद्रस्य पुत्राः सन्ति, दाधृविः यान् चो नु भरध्यै, महः हि माता मही विदे, सा पृश्निः सु-भ्वे इत् गर्भं आ अधात्। ३३७ अन्तः सन्तः अवद्यानि पुनानाः ये नु अया जनुषः न ईषन्ते, यत् श्रिया तन्वं अनु उक्षमाणाः शुचयः जोषं अनु निः दुह्रे। ३३८ येषु धृष्णु मारुतं नाम आ दधानाः न दोहसे चित् मक्षु अयाः, सु-दानुः न ये अयासः स्तौनाः उग्रान् नु चित् मह्ना अव यासत्।

अर्थ— ३३६ (ये) जो वीर (मीळहुषः रुद्रस्य) स्नेहयुक्त रुद्रके (पुत्राः सन्ति) सुपुत्र हैं; (दाधृविः) सबका धारण करनेवाली पृथ्वी (यान् चो नु) जिनके सचमुचही (भरध्यै) पालनपोषणके लिए है और जो (महः हि) महान वीरोंकी (माता) माता होनेके कारण (मही) बडी (विदे) समझी जाती है, (सा पृश्नि॰ वह मातृभूमि (सु-भ्वे इत्) जनताका कल्याण हो, इसीलिये (गर्भं आ अधात्) गर्भ धारण कर चुकी है।

३३७ (अन्तः सन्तः) अन्दर रहकर (अवद्यानि) दोषोंको, पापोंको (पुनानाः) पवित्र करते हुये (ये नु) जो वीर सचमुचही (अया) अपनी गतिसे (जनुषः) जनतासे (न ईषन्ते) दूर नहीं जाते हैं, तथा (यत्) जो (श्रिया) अपनी आभासे (तन्वं) शरीरको (अनु) अनुकूलतासे (उक्षमाणाः) बलवान करते हैं वे (शुचयः) पवित्र वीर (जोषं अनु) इच्छाके अनुकूल दान (निः दुह्रे) देते रहते हैं।

३३८ (येषु) जिनमें वीर (धृष्णु) शत्रुसेनाका धर्षण करनेहारा (मारुतं नाम) मरुतोंका नाम (आ दधानाः) धारण करते हैं और जो (दोहसे चित्) जनताके पोषणके लिए (मक्षु) तुरन्त (अयाः) अग्रगामी बनते हैं वे (सु-दानुः) अच्छे दानी वीर (न) अभी (ये) जो (अयासः) भटकनेवाले (स्तौनाः) चोर हैं उन्हें (उग्रान् नु चित्) भीषण डाकुओंको भी (अव यासत्) परास्त कर देते हैं।

भावार्थ— ३३६ ये वीर सैनिक वीरभद्रके सुपुत्र हैं। सारी पृथ्वी इनका पोषण करती है। यही कारण है कि पृथ्वीका बडप्पन चहुँओर विख्यात है। लोककल्याणके लिए पृथ्वी धान्यरूपी गर्भका धारण करती है। ३३७ ये वीर समाजमेंही रहते हैं और दोषोंको दूर हटाकर पवित्रतापूर्ण वातावरण फैला देते हैं। वे कभी जनताका परित्याग करके दूर नहीं जाते हैं। और अपना तेज बढाकर सबको अनुकूलतापूर्वक दान देते रहते हैं। ३३८ जिन्होंने शूरका नाम धारण किया है और जो जनताके पुष्ट्यर्थ प्रयत्नशील बने रहते हैं वे प्रबल डाकुओंको भी दूर हटाते हैं।

रूप। (२) अन्यत्= दूसरा, बदला हुआ, अलग, अनूठा। (३) चिकित्वस्= जाननेवाला, परिचित, अनुभविक, ज्ञानी। [३३५] (१) रेणुः = धूलि, मल; अ-रेणवः = निर्मल (निष्पाप)। [३३६] (१) मीळ्हुष् = (मीढ्वस्) स्नेहयुक्त, उदार, प्रभावी, ऐश्वर्यसंपन्न, सिंचन करनेहारा। (२) दाधृविः = (धृ धारणे) सदैव धारण करनेहारी (पृथ्वी)। (३) भरध्यै = (भृ धारणपोषणयोः) पालनपोषण। [महः माता मही] = महान् पुरुषोंकी माता है, क्या इसीलिये पृथ्वीको 'मही' नाम दिया गया है। [३३७] (१) अया = गति। (२ ईष् = उड जाना, देना, देखना, चढाई करना, वध करना, चुपकेसे चले जाना, सटक जाना। (३) जनुस् = उत्पत्ति, प्राणी, जीव, जन्मभूमि। (४) जोष = समाधान, सुख, आनन्द, उपभोग। (५) [अन्तः सन्तः अवद्यानि पुनानाः]= शरीरके

(३३९) ते । इत् । उग्राः । शवसा । धृष्णुऽसेनाः । उभे इति । युजन्त । रोदसी इति ।
सुमेके इति सुऽमेके ।
अध । स्म । एषु । रोदसी । स्वऽशोचिः ।
आ । अमवत्ऽसु । तस्थौ । न । रोकः ॥६॥

(३४०) अनेनः । वः । मरुतः । यामः । अस्तु । अनश्वः । चित् । यम् । अजति । अरथीः ।
अनवसः । अनभीशुः । रजःऽतूः ।
वि । रोदसी इति । पथ्याः । याति । साधन् ॥७॥

अन्वयः— ३३९ ते शवसा उग्राः धृष्णु-सेनाः सुमेके उभे रोदसी युजन्त इत्, अध स्म एषु अम-वत्सु रोदसी स्व-शोचिः, रोकः न आ तस्थौ ।

३४० (हे) मरुतः ! वः यामः अन्-एनः अस्तु, अन्-अश्वः अ-रथीः चित् यं अजति, अन्-अवसः अन्-अभीशुः रजस्-तूः साधन् रोदसी पथ्याः वि याति ।

अर्थ— ३३९ (ते) वे (शवसा) अपने बलसे (उग्राः) उग्र प्रतीत होनेवाले, और (धृष्णु-सेनाः) साहसी सेनासे युक्त वीर (सुमेके) सुहानेवाले (उभे रोदसी) भूलोक एवं द्युलोकमें (युजन्त इत्) सुसज्ज बने रहते हैं। (अध स्म) और (अम-वत्सु) बलवान (एषु) इन वीरोंके तैयार रहते समय (रोदसी) आकाश तथा पृथ्वी (स्व-शोचिः) अपने तेजसे युक्त होते हैं और पश्चात् (रोकः) उन्हें किसी रुकावटसे (न आ तस्थौ) मुठभेड नहीं करनी पडती है !

३४० हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः यामः) तुम्हारा रथ (अन्-एनः) दोषरहित (अस्तु) रहे, उसे (अन्-अश्वः) घोडे न जोते हों, तोभी (अ-रथीः) रथपर न बैठनेवाला भी (यं अजति) जिसे चलाता है। (अन् अवसः) जिसमें रक्षाका साधन नहीं तथा (अन्-अभीशुः) लगाम नहीं और (रजस्-तूः) धूल उडानेवाला हो तथापि वह (साधन्) इच्छापूर्ति करता हुआ (रोदसी) आकाश एवं पृथ्वी परके (पथ्याः) मार्गोंसे (वि याति) विविध प्रकारोंसे जाता है।

भावार्थ— ३३९ ये वीर तथा इनकी साहसपूर्ण सेना सदैव तैयार रहती है, अतः इनकी राहमें कोई रुकावट खडी नहीं रहती है। इसी कारणसे बिना किसी कठिनाई या विघ्नके ये अपना कर्तव्य पूरा करते हैं ।

३४० मरुतोंके रथमें दोष नहीं है। उसमें घोडे नहीं जोते हैं। जो मनुष्य रथ चलानेमें अनभ्यस्त है, वह भी उसे चला सकता है। युद्धके समय उपयोग दे सके, ऐसा कोई रक्षाका साधन उसपर नहीं है और खींचनेके लिए लगाम भी नहीं है। यह रथ जब चलने लगता है, तब धूल या गर्द उडाता हुआ भूमिपरसे जाता है और इसी प्रकार अन्तरिक्षमेंसे भी जाता है।

अन्दर रहकर शारीरिक दोष दूर हटाकर उसे पवित्र करनेहारे (अध्यात्मपक्षमें मरुत्-प्राण)। [३३८] (१) धृष्णु नाम = ऐसा नाम कि जिससे शत्रुके दिलमें भय उत्पन्न हो। (२) स्तौन = डाकू, चोर, उचक्का। (३) यम्= प्रयत्न करना। अव+यस्= दूर करना, हटाना। [३३९] (१) रोकः= तेजस्विता, दीप्ति। [३४०] (१) अवसं = अन्न, संबल, संरक्षण, धन, गति, यश, समाधान, इच्छा, आकांक्षा। (२) रजस्-तूः = अन्तरिक्षमेंसे त्वरापूर्वक वेगसे जानेवाला। (३) रोदसी पथ्याः याति= अन्तरिक्षमेंसे रथ जाता है। (देखो मंत्र ६१;८०)।

(३४१) न । अस्य । वर्ता । न । तरुता । नु । अस्ति ।
मरुतः । यम् । अवथ । वाजऽसातौ ।
तोके । वा । गोषु । तनये । यम् । अप्ऽसु ।
सः । व्रजं । दर्ता । पार्ये । अध । द्योः ॥८॥

(३४२) प्र । चित्रम् । अर्कम् । गृणते । तुराय । मारुताय । स्वऽतवसे । भरध्वम् ।
ये । सहांसि । सहसा । सहन्ते । रेजते । अग्ने । पृथिवी । मखेभ्यः ॥९॥

अन्वयः- ३४१ मरुतः ! वाज-सातौ यं अवथ अस्य वर्ता न तरुता नु न अस्ति, अध तोके तनये गोषु अप्सु वा यं सः पार्ये द्योः व्रजं दर्ता ।

३४२ (हे) अग्ने ! ये सहसा सहांसि सहन्ते, मखेभ्यः पृथिवी रेजते, गृणते तुराय स्व-तवसे मारुताय चित्रं अर्कं प्र भरध्वं ।

अर्थ— ३४१ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वाज-सातौ) संग्राममें (यं अवथ) जिसकी रक्षा तुम करते हो, (अस्य) उसका (वर्ता न) घेरनेवाला कोई नहीं है, या उसका (तरुता) विनाशक भी कोई (नु न अस्ति) नहीं रहता है। (अध) उसी प्रकार (तोके) पुत्रोंमें, (तनये) पौत्रोंमें, (गोषु) गौओंमें या (अप्सु) जलमें रहनेवाले (यं) जिस मानवका संरक्षण तुम करते हो, (सः) वह (पार्ये) युद्धमें (द्योः) तेजस्वी द्युलोककी (व्रजं) गोशालाका भी (दर्ता) विदारण करता है, अपने अधीन करता है।

३४२ हे (अग्ने !) अग्ने ! तथा अग्निके अनुयायी लोगों ! (ये) जो अपने (सहसा) बलसे (सहांसि) शत्रुओंके आक्रमणों को (सहन्ते) बरदाश्त करते हैं, उन (मखेभ्यः) बडे वीरोंके वेगसे (पृथिवी रेजते) भूमितक दहल उठती है; उन (गृणते) स्तोत्रपाठ करनेहारे, (तुराय) शीघ्र जानेवाले एवं (स्व-तवसे) अपने निजी बलसे युक्त (मारुताय) वीर मरुतों के संघ के लिए (चित्रं) आश्चर्य-कारक, (अर्कं) पूजनीय तथा प्रशंसनीय अन्न (प्र भरध्वं) पर्याप्त मात्रामें दे दो।

भावार्थ— ३४१ ये वीर जिसके संरक्षणका बीडा उठाते हैं, वह कभी पराभूत या विनष्ट नहीं होता है। पुत्रपौत्रों, पशुओं या जलप्रवाहोंके मध्य रहनेवाले जिन अनुयायियोंका संरक्षण ये वीर करने लगते हैं वे स्वर्गके तमाम शत्रुओंका विध्वंस कर सकते हैं, (ऐसी दशामें वे भूमंडलपर विचरनेवाले शत्रुओंकी धज्जियाँ उडानेकी क्षमता रखें, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं)।

३४२ इन वीरोंके आक्रमण के समय पृथ्वी भी विकंपित हो उठती है। ऐसे इन वीरोंके संघ को सभी तरह का अन्न दे दो और इन्हें संतुष्ट रखो।

टिप्पणी— [३४१] (१) वर्तृ=(वृणोतेः) आवरक, घेरनेवाला, वेष्टनकर्ता। (२) वाजः= लडाई, शब्द, अन्न, जल, यज्ञ, बल। वाज-सातिः= अन्न पानेके लिए की हुई चढाऊपरी। (३) सातिः= देना, स्वीकारना, देन, मदद, विनाश, सम्पत्ति। (४) तरुतृ= जीतनेवाला, आक्रामक, पार ले चलनेवाला। (५) व्रजः= गोष्ठ, गौशाला; (६) द्योः व्रजः = स्वर्गकी गोशाला। [३४२] (१) मखः= (मख् गतौ= जाना, हिलना, हिलाना) वेगसे जानेहारा, हिलनेवाला, हिलानेवाला, पूज्य, रमणीय, आनंदी, चपल, महान्, बडा। (२) अर्कः= सूर्य, अग्नि, प्रकाशकिरण, तेज, पूज्य, अर्चनीय।

(३४३) त्विषिऽमन्तः । अध्वरस्यऽइव । दिद्युत् । तृषुऽच्यवसः । जुह्वः । न । अग्नेः ।
अर्चत्रयः । धुनयः । न । वीराः । भ्राजत्ऽजन्मानः । मरुतः । अधृष्टाः ॥ १० ॥

(३४४) तम् । वृधन्तम् । मारुतम् । भ्राजत्ऽऋष्टिम् । रुद्रस्य । सूनुम् । हवसा । आ । विवासे ।
दिवः । शर्धाय । शुचयः । मनीषाः । गिरयः । न । आपः । उग्राः । अस्पृध्रन् ॥ ११ ॥

मित्रावरुणपुत्र वसिष्ठऋषि (ऋ० ७।५६।१-२५)

(३४५) के । ईम् । विऽअक्ताः । नरः । सऽनीळाः ।
रुद्रस्य । मर्याः । अध । सुऽअश्वाः ॥ १ ॥

अन्वयः— ३४३ मरुतः अ-ध्वरस्यइव त्विषि-मन्तः तृषु-च्यवसः, अग्नेः जुह्वः न, दिद्युत् अर्चत्रयः, वीराः न धुनयः, भ्राजत्-जन्मानः अ-धृष्टाः । ३४४ तं वृधन्तं भ्राजत्-ऋष्टिं रुद्रस्य सूनुं मारुतं हवसा आ विवासे, दिवः शर्धाय उग्राः शुचयः मनीषाः, गिरयः आपः न, अस्पृध्रन् । ३४५ अध रुद्रस्य स-नीळाः मर्याः सु-अश्वाः व्यक्ताः नरः ईं के ?

अर्थ- ३४३ (मरुतः) वे वीर मरुत् (अ-ध्वरस्यइव) अहिंसायुक्त कर्मके समान (त्विषि-मन्तः) तेजस्वी, (तृषु-च्यवसः) वेगपूर्वक बाहर निकलनेवाले, (अग्नेः जुह्वः न) अग्नि की लपटों के तुल्य (दिद्युत्) प्रकाशमान, (अर्चत्रयः) पूजनीय, (वीराः न) वीरोंके समान (धुनयः) शत्रुओंके हिलानेवाले, (भ्राजत्-जन्मानः) तेजस्वी जीवन धारण करनेहारे हैं तथा (अ-धृष्टाः) इनका पराभव दूसरे कभी नहीं कर सकते हैं । ३४४ (तं वृधन्तं) उस बढनेवाले तथा (भ्राजत्-ऋष्टिं) तेजस्वी भाले धारण करनेहारे (रुद्रस्य सूनुं) वीरभद्रके सुपुत्र (मारुतं) वीर मरुतों के संघका मैं (आ विवासे) सभी तरहसे स्वागत करता हूँ । उसी प्रकार (दिवः शर्धाय) दिव्य बलकी प्राप्ति के लिए हमारी (उग्राः शुचयः) उग्र तथा पवित्र (मनीषाः) इच्छाएँ (गिरयः आपः न) पर्वत से बहनेवाली जलधाराओं के समान (अस्पृध्रन्) स्पर्धा करती हैं । ३४५ (अध) और (रुद्रस्य स-नीळाः मर्याः) महावीरके, एक घरमें रहनेहारे वीर मर्त्य (सु-अश्वाः व्यक्ताः नरः) उत्कृष्ट घोडे समीप रखनेवाले, सबको परिचित एवं नेता (ईं के) भला सचमुच कौन हैं ?

भावार्थ— ३४३ ये वीर तेजस्वी, वेगसे धावा करनेवाले, शत्रुदलको हटानेवाले हैं, अतएव इनका पराभव होना कदापि संभव नहीं ।

३४४ मैं इन शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्ज वीरोंका सुस्वागत करता हूँ । हम अपनी पवित्र आकांक्षाओंको इनके निकट बडी स्पर्धासे भेजते हैं, ताकि हमें दिव्य बल प्राप्त हो जाय और इस विषयमें सचेष्ट रहते हैं कि अधिकाधिक बल हमें प्राप्त हो जाय ।

३४५ हे लोगो ! जो महावीरके सैनिक, जनताके हितकर्ता एवं अच्छे घोडे समीप रखनेवाले होनेके कारण सबको परिचित हैं, भला वे कौन हैं ?

टिप्पणी— [३४३] (१) तृषु= प्यासा, शीघ्र-वेगसे जानेवाला । (२) च्यु= बाहर निकलना, गिर पडना, टपकना । [३४५] (१) व्यक्त = साफ दिखाई देनेवाला, प्रकट हुआ, अलंकृत, स्वच्छ, सबको ज्ञात, सयाना । (२) मर्याः= (मर्त्येभ्यो हिताः । सायणभाष्य) मानवोंका हित करनेहारे । रुद्रस्य मर्याः= महावीरके वीर सैनिक (३) स-नीळाः= एक घरमें (Barrack में) रहनेवाले । (देखिये मंत्र ११७,३११,४४७ ।)

(३४६) नकिः । हि । एषाम् । जनूंषि । वेद । ते । अङ्ग । विद्रे । मिथः । जनित्रम् ॥२॥
(३४७) अभि । स्वऽपूभिः । मिथः । वपन्त । वातऽस्वनसः । श्येनाः । अस्पृध्रन् ॥४॥
(३४८) एतानि । धीरः । निण्या । चिकेत । पृश्निः । यत् । ऊधः । मही । जभार ॥४॥
(३४९) सा । विट् । सुऽवीरा । मरुत्ऽभिः । अस्तु । सनात् । सहन्ती । पुष्यन्ती । नृम्णम् ॥५॥
(३५०) यामम् । येष्ठाः । शुभा । शोभिष्ठाः । श्रिया । सम्ऽमिश्लाः । ओजःऽभिः । उग्राः ॥ ६

अन्वयः— ३४६ एषां जनूंषि नकिः हि वेद, ते मिथः जनित्रं अङ्ग विद्रे ।
३४७ स्व-पूभिः मिथः अभि वपन्त, वात-स्वनसः श्येनाः अस्पृध्रन् ।
३४८ धी-रः एतानि निण्या चिकेत, यत् मही पृश्निः ऊधः जभार ।
३४९ सा विद् मरुद्भिः सु-वीरा, सनात् सहन्ती, नृम्णं पुष्यन्ती अस्तु ।
३५० यामं येष्ठाः, शुभा शोभिष्ठाः, श्रिया सं-मिश्लाः, ओजोभिः उग्राः ।

अर्थ— ३४६ (एषां) इन वीरोंके (जनूंषि) जन्म (नकिः हि वेद) कोईभी नहीं जानता है। (ते) वे वीर ही (मिथः) एक दूसरेका (जनित्रं) जन्मस्थान (अङ्ग) सचमुच (विद्रे) जानते हैं। ३४७ वे वीर जब (स्व-पूभिः) अपने पवित्रता करनेहारे साधनोंके साथ (मिथः अभि वपन्त) एकत्र जुड जाते हैं, तब (वात-स्वनसः) पवनके तुल्य बडा भारी शब्द करनेवाले वे वीर (श्येनाः) बाज पंछियोंकी नाईं वेगमें (अस्पृध्रन्) स्पर्धा करते हैं।

३४८ (धी-रः) बुद्धिमान पुरुष इन ही वीरों के (एतानि निण्या) ये गुप्त कार्यकलाप (चिकेत) जान सकता है। (यत्) जिन्हें (मही) महान (पृश्निः) गौने अपने (ऊधः) दुग्धाशयमें से दूध पिलाकर (जभार) पुष्ट किया है।

३४९ (सा विद्) वह प्रजा (मरुद्भिः) वीर मरुतों के सहायता से (सु-वीरा) अच्छे वीरों से युक्त होकर (सनात्) हमेशा ही (सहन्ती) शत्रुका पराभव करनहारी तथा (नृम्णं पुष्यन्ती) बलका संवर्धन करनेहारी (अस्तु) बने।

३५० वे वीर शत्रु पर (यामं) हमले करनेके (येष्ठाः) प्रयत्न करनेहारे, (शुभा शोभिष्ठाः) अलंकारों से सुहानेवाले, (श्रिया) कांति से (सं-मिश्लाः) जुड जानेवाले तथा (ओजाभिः उग्राः) शारीरिक सामर्थ्य से उग्र स्वरूपवाले प्रतीत होते हैं।

भावार्थ— ३४६ किसीकोभी इनका जन्मवृत्तान्त ज्ञात नहीं; शायद वेही अपना जन्म जानते हों। ३४७ वीर सैनिक अपनी शक्ति बढानेके कार्यमें चढाऊपरी करते हैं, होड लगाते हैं। ३४८ इन वीरोंके शूरतापूर्ण कार्य केवल बुद्धिमान पुरुषकोही विदित हैं। इन वीरोंका पोषण गौने अपने दुग्धके प्रदानसे किया है। [ये गौको अपनी माता समझनेवाले हैं।] ३४९ समूची प्रजा शूर एवं वीर बने, वह अपना बल बढाती रहे और शत्रुका पराभव करती रहे। ३५० ये वीर शत्रुपर हमले चढानेमें तत्पर, शोभायमान, तेजस्वी, एवं सामर्थ्यवान हैं।

टिप्पणी— [३४७] (१) वप्= बोना, फैलाना, फेंकना, उत्पन्न करना। अभि-वप् = फैलाना, बोना, ढकना। (२) पू= (पवने) पवित्र करना, स्वच्छ करना, उन्मुक्त करना, [३४८] (१) निण्य= ढका हुआ, गुप्त, आश्चर्यजनक। [३५०] (१) येष्ठ= (येष्= प्रयत्न करना, चेष्टा करना, कोशिश करना + स्थ= स्थिर रहना) कोशिश करते हुए अटल खड रहनेवाल। या= आना, (या+इष्ठ) अत्यन्त वेगसे जानेवाले (अर्थात् शत्रुपर चढाई करते समय वेगसे जानेवाला।)

(३५१) उग्रम् । वः । ओजः । स्थिरा । शवांसि । अध । मरुत्ऽभिः । गणः । तुविष्मान् ॥ ७
(३५२) शुभ्रः । वः । शुष्मः । क्रुध्मी । मनांसि । धुनिः । मुनिःऽइव । शर्धस्य । धृष्णोः ॥ ८
(३५३) सनेमि । अस्मत् । युयोत । दिद्युम् । मा । वः । दुःऽमतिः । इह । प्रणक् । नः ॥९
(३५४) प्रिया । वः । नाम । हुवे । तुराणाम् ।
आ । यत् । तृपत् । मरुतः । वावशानाः ॥१०॥

अन्वयः— ३५१ वः ओजः उग्रं, शवांसि स्थिरा, अध मरुद्भिः गणः तुविष्मान् । ३५२ वः शुष्मः शुभ्रः, मनांसि क्रुध्मी, धृष्णोः शर्धस्य धुनिः मुनिःइव । ३५३ स-नेमि दिद्युं अस्मत् युयोत, वः दुर्-मतिः इह नः मा प्रणक् । ३५४ (हे) मरुतः ! तुराणां वः प्रिया नाम आ हुवे, यत् वावशानाः तृपत् ।

अर्थ— ३५१ (वः ओजः) तुम्हारा शारीरिक सामर्थ्य (उग्रं) उग्र स्वरूप का है और तुम्हारे (शवांसि स्थिरा) सभी बल स्थिर हैं । (अध) और (मरुद्भिः) वीर मरुतोंके कारणही (गणः) तुम्हारा संघ (तुविष्मान्) सामर्थ्यवान हो चुका है । ३५२ (वः शुष्मः) तुम्हारा बल (शुभ्रः) निष्कलंक है, तुम्हारे (मनांसि) मन शत्रुओंके बारेमें (क्रुध्मी) क्रोधसे भरे होते हैं और (धृष्णोः) शत्रुका धर्षण करने की तुम्हारे (शर्धस्य) सामर्थ्यका (धुनिः) वेग (मुनिःइव) मुनिकी तरह मननपूर्वक होनेवाला है । ३५३ वह तुम्हारा (स-नेमि) अत्यन्त तीक्ष्ण धाराका (दिद्युं) तेजस्वी हथियार (अस्मत् युयोत) हमसे दूर हटाओ । (वः) तुम्हारी शत्रुको दूर करनेहारी बुद्धि (इह) यहाँपर (नः) हमें (मा प्रणक्) विनष्ट न करे । ३५४ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (तुराणां वः) त्वरित कार्य करनेवाले तुम्हारे (प्रिया नाम) प्यारे नामसे तुम्हें मैं (आ हुवे) बुलाता हूँ । (यत्) जिसकीही (वावशानाः) इच्छा करनेहारे तुम (तृपत्) दृप्त हो ।

भावार्थ— ३५१ इन वीरोंकी शक्ति कभी घटती नहीं, इतनाही नहीं अपितु वह हमेशा बढतीही है ।

३५२ वीरोंका बल निष्कलंक है अतः वह, सबका कल्याण करनेके लिए जो कार्य करना है, उसमें उपयुक्त ठहरेगा । जो शत्रु है उसपरही क्रोध करना उचित है और विचारशील मनुष्यके तुल्य, आक्रमण का वेग निश्चित करते समय सावधानीसे काम करना चाहिए ।

३५३ वीरोंका हथियार एवं उनकी वह शत्रुको कुचलनेकी आयोजना केवल शत्रुपरही प्रयुक्त होवे । स्वकीय जनतापर उसका प्रयोग न होने पाय । (जो शस्त्र शत्रुपर प्रयोग करनेके लिए हैं, उनका उपयोग अपनेही बांधवों तथा लोगोंपर नहीं करना चाहिए ।)

३५४ वीर सैनिक अपना कार्य शीघ्रतासे करते हैं और जब अपने यशका वर्णन सुन लेते हैं तब संतुष्ट हो जाते हैं ।

टिप्पणी— [३५१] (१) शवांसि स्थिरा=स्थायी बल अर्थात् शत्रु चाहे जैसे आक्रमण कर ले तोभी या चाहे जैसी आपत्तियां उठ खडी हों, तथापि इन बलोंमें न्यूनता न दीख पडे । (२) गणः तुविष्मान्= समूचा संघ बलवान, बुद्धिवान एवं सतत वर्धिष्णु रहनेवाला । (३) तुविस्= वृद्धि, बल, ज्ञान । [३५२] (१) मुनिः इव धृष्णोः शर्धस्य धुनिः= मनन करनेहारे मानवकी हलचलके तुल्य, शत्रुका विध्वंस करनेके लिए काममें आनेवाले सामर्थ्यका वेग बडी सतर्कतासे निर्धारित करना चाहिए । अविचारवश या उतावलेपनसे व्यर्थही धींगाधींगी नहीं मचानी चाहिए । (२) शुभ्र = (शुभ्-र) साफसुथरा, निर्मल, शुभ, निष्कलंक । (३) शुष्मः-ष्मं = (सूर्य, अग्नि, वायु) शक्ति, बल, तेज । शुष्मन् = बल, शक्ति, तेज, अग्नि । [३५३] (१) सनेमि = (सन-एमि) बहुत प्राचीन (सायण) । स-नेमि= (नेमि = परिघ, धारा, वर्तुलका छोर) अतिशय तीव्र धारासे युक्त ।